ज्ञान-विज्ञान-योग

[गीताका सातवाँ अध्याय]

व्याख्याता

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई

Akhandanand Swara-
swati
Gyan-vijnan-yoga:
Gita Ka Satawan
Adhyay.

Akhandanand Swara-
swati
Gyan-vijnan-yoga:
Gita Ka Satawan
Adhyay.

[गीताका सातवाँ अध्याय]

व्याख्याता

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई

प्र का श की य

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके यों सभी व्याख्यान अपने विषयके साङ्गोपाङ्ग विवेचनके अतिरिक्त संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर प्रकाश डालते हैं। उनमें गीतापर उनके व्याख्यान अपनी इस कलामें और भी निखर उठते हैं। जनसाधारणके बीच जन-साधारणकी भाषामें जनसाधारणके अनुभूत दृष्टान्तों द्वारा दर्शनों एवं वेदान्तके गूढ-रहस्योंका निरूपणकर महाराजश्री गीताका हार्द सुस्पष्ट लाकर उपस्थित कर देते हैं। यही कारण है कि अपने उनके गीताके विभिन्न अध्यायोंपर 'योग'रूपमें निकले प्रवचन छपनेके साथ ही ग्राहक लूट लेते हैं। उनमें अब कतिपय चूक भी गये हैं जिन्हें शीघ्र प्रकाशित किया जा रहा है।

अबतक प्रकाशित विभिन्न योगोंमें ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना, सांख्ययोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, पुरुषोत्तमयोग और अन्तिम प्रवचन विभूतियोगको पिछली बार हम पाठकोंकी सेवामें भेंट कर चुके। अब यह 'ज्ञान-विज्ञान-योग' उनकी सेवामें प्रस्तुत है। विभूति-योगकी तरह इस ज्ञान-विज्ञान-योगके सम्पादनमें भी श्री पं० गोविन्द नरहरि वैजापुरकर एम. ए. न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्यका हमें उल्लेख्य सहयोग प्राप्त रहा है। अतः ट्रस्ट उनके प्रति आभारी है। पूज्य महाराजश्री तो ट्रस्टके प्राण ही हैं। आनन्द-कानन प्रेसके अधिपति श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा इसके प्रकाशनमें जो आत्मीयतापूर्ण सहयोग मिला, तदर्थं वे भी धन्यवादके पात्र हैं।

प्रक
स

अनुक्रम

गीताका सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ज्ञान-विज्ञान-योग

प्रस्तावना

यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥
—श्रीमधुसूदन सरस्वती

जिनकी भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिलती, सभी प्रकारके योगियोंके लिए जो सेवनीय हैं, परमानन्दघन उन श्री नन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ।

गीताके सातवें अध्यायकी अपनी टीकाके प्रारम्भमें वेदान्तियोंके समाजमें सुप्रसिद्ध एवं विशेष प्रतिष्ठाप्राप्त, अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्त-बिन्दु, वेदान्त-कल्पलतिका जैसे ग्रन्थरत्नों के रचयिता स्वामी श्री मधुसूदन सरस्वतीजी ने यह मंगलाचरण किया है ।

श्री मधुसूदन सरस्वतीजी और प्रायः सभी वैष्णवाचार्य गीताके इस सातवें अध्यायको दूसरे काण्डका प्रारम्भ मानते हैं । उनकी मान्यता है कि 'गीताके पहले छः अध्यायोंमें प्रधानतया कर्मका वर्णन है, दूसरे छः अध्यायों (७ से १२ तक) में उपासनाका और अन्तिम छः अध्यायों (१३ से १८ तक)में प्रधानतया ज्ञानका वर्णन है ।'

भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य गीतामें वस्तुप्रधान प्रतिपादन स्वीकार करते हैं, साधनप्रधान नहीं । अतएव उनके भाष्यमें इस तरह गीताके तीन काण्डोंमें विभाजनका कोई संकेत नहीं है ।

कई लोग कहते हैं : 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यको लेकर 'गीताके पहले ६ अध्यायोंमें 'त्वम्' पदार्थकी प्रधानतासे प्रतिपादन है। दूसरे ६ अध्यायों (७ से १२ तक) में 'तत्' पदार्थकी प्रधानतासे तो तीसरे ६ अध्यायों (१३से १८ तक)में दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन है।'

कुछ लोग 'तत्त्वमसि'के स्थान पर 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य लेकर पहले ६ अध्यायोंमें 'अहं' पदार्थका, दूसरे ६ अध्यायोंमें 'ब्रह्म' पदार्थका और अन्तिम ६ अध्यायोंमें 'अस्मि' पदार्थ—दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन बतलाते हैं।

कोई-कोई यह भी अन्तर बतलाते हैं कि 'द्वितीय अध्यायमें वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' साधनकी एक परिपक्वावस्था है, तो दूसरी परिपक्वावस्था है बारहवें अध्यायमें वर्णित 'भक्त'। किन्तु इनमें स्थितप्रज्ञ प्रथमावस्था है, तो भक्त द्वितीयावस्था । चौदहवें अध्यायमें गुणातीतके रूपमें जिसका वर्णन है, वह सिद्धावस्थाका तृतीय रूप है।'

'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थमें श्री मंडनमिश्रने सिद्ध किया है कि स्थितप्रज्ञ साधक ही है, सिद्ध नहीं। क्योंकि वह आत्मन्येवात्मना तुष्टः अर्थात् अन्तःकरणमें रहकर ही सन्तुष्ट होता है। भक्तके वर्णनमें कहा गया है : सन्तुष्टो येन केनचित्। स्थितप्रज्ञ अन्तर्मुख होकर ही सन्तुष्ट होता है; लेकिन भक्त अन्तर्मुख रहे या बहिर्मुख, सर्वत्र सन्तुष्ट है। गुणातीतका वर्णन है :

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

अर्थात् वह संतोषसे भी निरपेक्ष है। यह सिद्धावस्था है।

जो भगवान्‌को जानकर उनसे प्रेम करते हैं, उनके विषयमें

भगवान्को कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि वे जानते हैं कि 'जो एक-बार मुझे देख या जान लेगा, वह मुझसे प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता :'

उमा राम सुभाउ जिन जाना।
तिन्हहिं भजन तजि भाव न आना॥

जिसने कभी देखा-जाना नहीं, जो केवल सुन-सुनकर श्रद्धा करता है और श्रद्धाके अधीन अपना सर्वस्व लुटा देता है, उसका प्रेम देखकर स्वयं भगवान् भी उसके ऋणी हो जाते हैं। उन्हें भी बड़ा आश्चर्य होता है कि 'हमें यह कितना श्रेष्ठ प्रेमी प्राप्त हुआ, जो बिना देखे-जाने, बिना मिले हमपर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है।' इसीलिए गीताके छठें अध्यायके अन्तमें (६.४७) भगवान्ने कहा है :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सब योगियोंमें श्रेष्ठ योगी वह है, जो यः श्रद्धावान् सन् मद्-गतेन अन्तरात्मना मां भजते। यहाँ श्रद्धान इस बातका सूचक है कि अभी उसने देखा या जाना नहीं है; क्योंकि साक्षात्-अपरोक्ष होनेके बाद मानने या श्रद्धा करनेकी बात नहीं रहती। जानी हुई बात हो जाती है।

अब प्रश्न होगा कि वे भगवान् कैसे मिलें? उनमें अपना मन कैसे लगाया जाय? 'मद्गत' का अर्थ क्या है? अपनी अन्तरात्माको संलग्न करनेके मानी क्या है? भजन कैसे करें और किसका करें? भजनमें बाधक क्या हैं? इन्हीं सब प्रश्नोंके उत्तरके लिए गीताका यह सातवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं : छठे अध्यायमें जिस योगका वर्णन किया गया, उससे आत्मज्ञान होता है; क्योंकि वहाँ कहा गया है :

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
—६.१०

अर्थात् 'योगी एकान्तमें बैठे। अपना सहायक भी कोई न रखे। चित्तवृत्तिको प्रतिलोम परिणामसे युक्त करे। युक्ताहार, विहारादिसे रहे। चित्तवृत्तियाँ नेत्र, कर्ण आदि मार्गोंसे संसारमें जाती हैं, उन्हें वहाँसे लौटा ले।'

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

अपने मनको एकाग्र कर ले और अन्तमें—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्

अपने मनको आत्मामें स्थित कर ले। किसी भी दूसरे विषयका चिन्तन न करे।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

सर्वत्र परमात्माका और परमात्मामें सबका दर्शन करे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखे! भजत्येकत्वमास्थितः—इस प्रकार अपने परिपूर्ण रूपका अनुभव प्राप्त करे।

इस तरह छठे अध्यायमें उस योगीका वर्णन किया गया है, जिसे आत्मसाक्षात्कार होता है।

अब कहते हैं : आत्मसाक्षात्कारके बाद भगवान्‌की भक्ति करें;

तब भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है। पहले आत्मज्ञान, फिर भक्ति और तब भगवत्तत्त्वज्ञान—ये तीन वस्तुएँ हैं। छठे अध्यायमें योगाभ्यास और उससे आत्मतत्त्वके ज्ञानका वर्णन किया गया। अब सातवें अध्यायमें भक्ति एवं भगवत्तत्त्वके ज्ञानका वर्णन करते हैं। शास्त्रीय भाषामें छठे अध्यायमें 'त्वं'-पदार्थप्रधान वर्णनका उपसंहार करके अब सातवें अध्यायमें 'तत्'-पदार्थप्रधान वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

वैष्णवाचार्य कहते हैं: 'वस्तुतः माहात्म्यज्ञानके बिना भक्ति नहीं होती। जब हम किसीकी महिमा जानते हैं, तभी उसकी भक्ति करनेकी इच्छा होती है:

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति ख्यातस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

अपने निबन्ध-ग्रन्थमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इस प्रसंग-को इस प्रकार लिया है: 'पहले होना चाहिए भगवान्के माहात्म्य-का ज्ञान; अर्थात् यह ज्ञान कि भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु और वात्सल्य रखनेवाले हैं। अचिन्त्य-अनन्त कल्याण-गुणगणैकधाम प्रभुकी महिमा जानकर भी जो भजन न करे, वह तो निरामूर्ख है।

'सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहः' फिर सबसे अधिक और दृढतर स्नेह भगवान्से हो। यह नहीं कि 'किसीसे स्नेह मत करो। बालक, मित्र, पति या पत्नी सभीसे स्नेह हो; पर सबसे अधिक स्नेह भगवान्से हो। अपने हृदयकी यह तैयारी रखें कि 'भगवान्का भजन नहीं छोड़ेंगे, भले ही सारी दुनिया छूट जाय।'

'सुदृढः' यानी स्नेहमें दृढ़ता हो। जरा-सी कठिनाई पड़ी और रूठ गये, ऐसा न हो। इसी प्रेमका नाम भक्ति है और यही मुक्ति देनेवाली है।

'भक्ति'का अर्थ है : भाग, विभाग। एक ओर संसार और दूसरी ओर भगवान् रहें, तो हमने अपने नेत्र भगवान्से लगा दिये और संसारसे हटा लिये : भागो भक्तिः। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं : 'भज्' धातुका अर्थ है सेवा और 'ति' प्रत्ययका अर्थ है स्नेह। इस तरह स्नेहपूर्वक भगवान्की सेवाका नाम भक्ति है।' सातवें अध्यायमें इसी भक्ति एवं भगवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है।

१. ज्ञान-विज्ञानोपदेशकी प्रतिज्ञा

संगति :

छठे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने यह तो कह दिया कि 'तस्माद्योगी भवार्जुन।' अर्थात् 'अर्जुन, इसलिए तुम योगी बनो।' लेकिन यह नहीं बतलाया कि जिससे 'योग' करना है, उस परमात्माका स्वरूप क्या है और उसमें मन लगानेकी रीति क्या है। अतः उसे अब बतलाने जा रहे हैं :

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

पार्थ! मुझमें आसक्तमना होकर, मेरा आश्रय लेकर योग करते हुए जिस प्रकार असन्दिग्ध एवं समग्र रूपसे मुझे जान लोगे, वह सुनो।

श्रीभगवान् : श्रीविशिष्ट भगवान्। 'श्री' अर्थात् लक्ष्मीजी सदैव उनके साथ रहती हैं। संसारमें जितने सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, आदि सद्‌गुण हैं, सब श्री हैं और वे श्रीभगवान्‌की सेवाके लिए लालायित रहती हैं। स्वयं भगवान्‌के वक्षःस्थलपर लक्ष्मीका निवास है।

उवाच : संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि अग्रिम वचन भगवान्‌का है। यहां वचन ही विवक्षित है, भूतकाल नहीं।

सत्पुरुष कहते हैं कि 'जब कोई आकर अपनी कठिनाई बतलाये और अपनी शङ्काका समाधान चाहे, तभी उसे उपदेश करना चाहिए।' बिना पूछे दवा बतलानेका शास्त्रमें निषेध है। परमार्थ-मार्गमे भी जो लोग बिना पूछे उपदेश करते हैं, उनकी बात आदरणीय नहीं होती। इसीलिए महाराज मनु कहते हैं :

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

अर्थात् बिना पूछे किसीको धर्मका उपदेश न करें। यदि पूछनेवाला अन्यायसे पूछ रहा हो—रास्ता चलते-चलते, बिना आदर किये, बिना श्रद्धाके पूछे तो भी उसे न बतलायें। बुद्धिमान्‌का कर्तव्य है कि ऐसे अवसरपर जानते हुए भी जड़, अनजानकी तरह आचरण करे। भगवान्‌ने न किसीको किसीका जज, निर्णायक बनाया है और न कोई इसका ठेका दिया है। स्पष्ट है कि बिना पूछे कुछ बतलानेपर वह बात उपहासास्पद हो जाती है।

लेकिन जहाँ कोई अपना पुत्र, मित्र, स्वजन, आश्रित या श्रद्धालु भक्त हो और उसमें सद्भावना हो तो महान् पुरुष उसे बिना पूछे भी बतलाते हैं :

अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः।

भगवान्‌के हृदयमें अपने सखा अर्जुनके प्रति महान् सौहार्द, महान् वात्सल्य है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण उसे बिना पूछे कहते हैं।

पार्थः अर्जुन ! तुम मेरी बुआके पुत्र, भाई और मित्र हो तथा तुमने यह निवेदन भी कर दिया है : शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् । अर्थात् मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागतको उपदेश दें।'

मय्यासक्तमनाः : मुझमें आसक्त है मन जिसका। 'मयि' = मुझमें, मन लगाकर। गीतामें 'भगवान् 'मैं' शब्दका प्रयोग बड़ी विशाल दृष्टिसे करते हैं। वे कहते हैं :

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

अर्थात् मैं अजन्मा, अनादि, लोकमहेश्वर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हूँ। मुझमें जिसने मन लगाया उसने निर्गुण, निराकार, सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें अपना मन लगा दिया।

लेकिन अर्जुनको तो वे ही भगवान् दीखते हैं जो उसके सामने तोत्रवेत्रैकपाणि बैठे हैं। अर्जुन जब उन्हें सम्बुद्ध करते हैं, तो कहते हैं :

'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।'
'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥'

भगवान् तो कहते हैं कि 'मैं निराकर-निर्विकार निर्विशेष-ब्रह्म हूँ; मुझमें मन लगाओ।' लेकिन अर्जुन समझते हैं : 'यह बात हमारे रथपर प्रत्यक्ष बैठे श्रीकृष्ण अपने लिए कह रहे हैं।'

'तोत्रवेत्रैकपाणये' और 'गीतामृतदुहे नमः' इन पदोंसे स्पष्ट है कि गीताका उपदेश करते समय भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके रथपर ही बैठे थे। अर्जुनके रथकी बागडोर नहीं छोड़ी थी। अर्जुन व्याकुल हो गया, इसलिए भगवान् उसके रथके घोड़ोंकी

बागडोर छोड़ दें तो भगवान्‌की शरण कौन जायगा ? भक्त चाहे स्वस्थ हो या व्याकुल, शरणागत हो या मूढ़, भगवान् उसके जीवन-रथके घोड़ों—इन्द्रियों-की बागडोर कभी नहीं छोड़ते। यही उनकी विशेषता है। इसलिए अर्जुनके रथपर बैठे-बैठे ही वे बोलते हैं। 'मयि'।

अर्जुन इस 'मयि' का अर्थ समझते हैं—ये ही पीताम्बरधारी, बायें हाथमें चाबुक और बागडोर लिये, दाहिने हाथमें ज्ञानमुद्रा धारण किये प्रपन्न-परिजात श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मुझमें अपना मन लगा दो।'

भगवान्‌का एक रूप है द्वारिकाधीशका साकार रूप, दूसरा रूप है आचार्य रूप, जिसे अर्जुनने कहा : शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। तीसरा रूप है, ब्रह्मादिका नियन्ता रूप—सकल जगत्‌के कारण-कारण। और चौथा रूप है नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म।

ये चारों रूप लेकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके रथपर बैठे हैं। द्वारिकाधीश होकर भी वे सारथि हैं, यह वात्सल्य है। गुरु होकर सारथि होना तो स्वाभाविक ही है। जो आचार्य होगा, उसे शिष्य-के इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी बागडोर अपने हाथमें रखनी ही होगी—उसे जीवनभर उसे चलाना ही होगा। निराकार सगुणरूप अन्तर्यामी है। वह अर्जुनके अज्ञानको मिटाकर ज्ञानदान करता है।

संसारके सम्पूर्ण जीवोंको ज्ञानदान करनेके लिए यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको केवल निमित्त बनाया है। उन अन्तर्यामी प्रभुने अर्जुनके मनमें मोहका संचार कर दिया और उसे स्वयं नर-वपुमें उपदेश करने लगे। अतः नर अर्जुन और नारायण भगवान्‌की बातचीत समस्त मनुष्योंके लिए, सर्वकालमें हितकारी

है ही। निराकार, निर्विकार ब्रह्म रूपमें जो भगवान् कृष्ण हैं, वे तो अर्जुनकी भी आत्मा ही हैं:

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अथवा—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'
'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।'

अतः 'मय्यासक्तमनाः' का अर्थ हुआ: 'तुम्हें जैसा ईश्वर दीखता है, उसमें मन लगाओ।' ईश्वर-बुद्धि करके मन लगाओगे तो तुम्हारा मन संसारको छोड़कर ईश्वरमें लग जायगा।

जो मुसलमान गंगामें स्नान करता है, उसे गंगा-बुद्धि नहीं होती। वह तो गंगाजी को एक साधारण दरिया समझता है। एक मुसलमानके लिए कर्मनाशाके जल और गंगाजलमें कोई अन्तर नहीं। अतः मुसलमान समझता है कि वह मात्र पानीमें नहा रहा है, भले ही गंगामें ही नहा रहा हो। यह अलग बात है कि गंगागत जो वस्तुगुण हैं, उनसे वह भी लाभान्वित हो।

लेकिन दूसरा भक्त कुँएके पानीमें नहाता हुआ बोलता है:

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

तो वह पवित्र तीर्थमें ही स्नान करता है।

किसीमें गङ्गा-बुद्धि है और गङ्गामें ही स्नान करता है तो वह सर्वश्रेष्ठ है।

कुँएका जल है; किन्तु गङ्गा-बुद्धि है तो वह भी भावको शुद्ध करनेवाला स्नान है। लेकिन जिसे गङ्गाकी याद ही न आये, उसका स्नान कहाँसे शुद्ध होगा? यहाँ जो भगवान् अर्जुनके

रथपर बैठे हैं, वे साक्षात् परम ब्रह्म हैं। उनके प्रति ईश्वर-बुद्धि करके अर्जुन उनके सामने बैठा है। अतएव भगवान् बोलते हैं: मय्यासक्तमनाः पार्थ। अर्जुन! तुम अपना मन मुझमें आसक्त कर दो।

मनको आसक्त करनेका अर्थ क्या है? 'सक्त' शब्दसे हिन्दीमें 'सटना' बना है। हमारे ही शब्द विदेशोंमें जाकर नाना वेष धर लेते हैं। यही 'आसक्त' शब्द मुसलिम देशोंमें गया तो 'आशिक' बन गया तात्पर्य यह कि जैसे प्रेमियोंका परस्पर मिलन होता है, वैसे ही अपना मन संसारमें नहीं, भगवान्‌में आसक्त करो।

जैसे आप एक तुलसीदल लेकर सिरमें सटा लेते हैं, वैसा भगवान्‌में मन नहीं लगता; क्योंकि वह मूर्त नहीं है। मन अमूर्त पदार्थ है। मन कोई बिन्दी नहीं, जो भगवान्‌के मस्तकपर लगा दी जाय। वह न चन्दन है, जो भगवान्‌के चरणोंमें चर्चित कर दें और न फूल है जो माला बनाकर उन्हें पहनायें। तब मनको भगवान्‌में सटाना कैसे?

मन है संकल्प-विकल्पात्मक। संकल्प-विकल्प करना उसका स्वभाव है। 'यह मुझे चाहिए, यह मुझसे दूर हो, छूट जाय' ऐसा संकल्प-विकल्प मनका रूप है। अतः उसे भगवान्‌में लगानेका अर्थ है, भगवान्‌के स्वरूपका इस तरह चिन्तन करना कि 'वे सद्गुणोंके आगार, अचिन्त्य-अनन्त कल्याणगुणगण-निलय हैं। उनका ऐश्वर्य-माधुर्य, सौन्दर्य अतुलनीय है।' उनके सद्गुणों, प्रभावोंका चिन्तन करना। वे मिलें, ऐसी कामना करना। उनके सगुण, साकार रूपका ध्यान करना। उनके चरण, वक्ष, ओष्ठ, नेत्र, प्रेमभरी चितवन आदिका चिन्तन करना। यही मनको

भगवान्‌में लगाना है। बार-बार मनमें भगवान्‌की स्फुरणा होना ही मनका भगवान्‌में सटना है।

कोई निराकारका ही चिन्तन करता है तो 'परमात्मा सत्य हैं, ज्ञानरूप और अनन्त हैं' इस प्रकार परमात्माके विषयमें बार-बार सोचना मनका परमेश्वरमें आसक्त होना है। कारण, जब कोई किसीके प्रति आसक्त होता है तो उसीके बारेमें बार-बार सोचता रहता है।

योगं युञ्जन् : भगवान्‌में मन लगा दो और उनके लिए नित्य सक्रिय रहो। 'योगं युञ्जन्' का अर्थ है, भगवान्‌के लिए नित्य सक्रियता।

तुम धनकी प्राप्तिके लिए सक्रिय हो। मकान बनाने, सम्मान पाने और स्त्री-पुत्रादिके लिए काम करते ही हो। फिर यदि ईश्वरके लिए काम नहीं करोगे तो कर्मोंके ये संस्कार तुम्हारे मनको विक्षिप्त कर देंगे। वह बिखर जायगा, जहाँ-तहाँ जाता रहेगा। अतः भगवान्‌की प्राप्ति, भगवत्सेवाके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

आपके पास घण्टे-दो-घण्टेका समय ऐसा होना चाहिए जब भगवान्‌के लिए आसन बाँधकर बैठें। अपने मन-इन्द्रियोंको चारों ओर से खींच लें। भगवान्‌में प्रेमसे बार-बार अपनी वृत्ति लगायें।

भगवान्‌की पूजा, भगवन्नामका जप, भगवान्‌के लिए चिन्तन, फूल लाना, माला बनाना, चन्दन घिसना—यह सारा 'योगं युञ्जन्' है। अर्थात् अपने शरीरसे भगवत्प्राप्ति, भगवत्सेवाके लिए कुछ न कुछ क्रिया करते रहना। भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

मालीसे माला न लेकर स्वयं माला बनाना। नौकरसे चन्दन न घिसवाकर स्वयं घिसना। पैसेसे खरीदकर जो माला चढ़ायी जाती है, उसमें चार आना उस मालाका महत्त्व नहीं है। जिसे चार आना कमानेमें दिनभर श्रम करना पड़ता है, उसे भगवान्को चार आनेकी माला चढ़ानेमें दिनभरका श्रम लगा; पर जिसे चार आना कमानेमें एक सेकेण्ड भी नहीं लगता, उसका तो भगवान्के लिए एक सेकेण्ड भी समय नहीं लगा। अतः 'योगं युञ्जन्' का अर्थ है भगवान्में अपनी क्रिया लगाना। अपनी साधना प्रतिदिन करते रहना।

मदाश्रयः : कभी भी अपने लक्ष्यकी पूर्तिके लिए दूसरेका आश्रय न लेना चाहिए। कोई धनका, कोई सेठका, कोई कर्मका तो कोई शासनका आश्रय लेता है। किन्तु आश्रय लेना हो तो केवल भगवान्का ही आश्रय लिया जाय। 'मदाश्रयः'='अहमेव आश्रयः आधारो यस्य सः।' अर्थात् मैं ही तुम्हारा आधार बनूँ।

भक्त नहीं समझता कि मैं अब प्रेमी हो गया तो कुछ करनेकी जरूरत नहीं। प्रेमी होकर काम करना चाहिए, यह बात सच है। बिना प्रेमके जो काम किया जाता है, वह बेकार है। भगवान्ने 'मय्यासक्तमनाः' से प्रेमी होनेको कहा और 'योगं युञ्जन्' से कहा काम करनेको। प्रेमी होकर काम करना; काम करो, पर हृदयमें प्रेम रखो।

प्रश्न होगा : 'कर्म करते ही हैं, कर्तव्य-पालन करते हैं, तो प्रेमकी क्या जरूरत?' लेकिन दस रुपये प्रेमकी बराबरी नहीं कर सकते। केवल काम करें और प्रेम न करें तो काम निष्काम हो जायगा। इसी तरह प्रेम ही करें और काम न करें तो प्रेम भी निकम्मा हो जायगा।

अब प्रेम भी हुआ, काम भी हुआ और अभिमान हो गया कि मैं इतना प्रेम करता हूँ, इतना काम करता हूँ तो हमारा काम, साधन ही हमें ईश्वरसे मिला देगा।' किन्तु ऐसा नहीं है। भक्त अपने कामको, साधनको ईश्वरकी कीमत नहीं देता। वह तो मानता है कि 'मैं अपना कालक्षेप करनेके लिए भगवत्-पूजनादि करता हूँ और वह भी करता हूँ भगवान्‌की दी हुई शक्तिसे।'

क्षण-क्षणके रूपमें हमारे सामने काल आता है। आप देखें कि यह काल भगवान्‌के नाममें लगा है। इस कालको व्यतीत करनेके लिएँ काम करना है। जैसे किसीसे मिलनेकी प्रतीक्षा करते हैं तो प्रतीक्षाका वह समय भारी न लगे, इसलिए किसी काममें लग जाते हैं। इसी प्रकार हमारा यह साधन है कालक्षेप। भगवान् साधनसे नहीं मिलेंगे, मिलेंगे तो कृपा करके ही।

श्रीरामानुजाचार्य महाराजने इस प्रसंगमें यह श्रुतिवचन उद्‌धृत किया है : यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। भगवान्‌पर भरोसा रखें। वह जब यह देखेगा कि यह मेरा बड़ा प्रेमी है और मेरे-लिए काम कर रहा है, तो स्वयं द्रवित होकर आपके पास आयेगा। आपके काममें, साधनमें इतनी शक्ति नहीं है कि आप उसे खींच सकें।

तीन प्रकारके लोग होते हैं : १. एक तो ऐसे, जो जप-पूजा करते और कहते हैं : 'भगवन्! हमारे पास इतना रुपया भेज दो। मैंने पाँच रुपयेकी पूजा की है तो बदलेमें पाँच हजार तो हमारे पास आना ही चाहिए।' ये करते हैं तो पूजा-जप, पर बदलेमें चाहते हैं संसार। स्पष्ट है कि वे संसारके भक्त हैं। सेठकी नौकरी तो करते हैं, पर उसका उद्‌देश्य है पत्नी-पुत्रके लिए रुपया भेजना।

२. दूसरे प्रकारके लोग वे हैं, जो कहते हैं कि 'हम रुपया-पैसा, स्त्री-पुत्र कुछ नहीं चाहते। हम इतनी तो माला फेर चुके, फेरते-फेरते अंगुलियाँ घिस गयीं। नाम लेते-लेते जीभ थक गयी। मन्दिर जाते-जाते पैर थक गये। जो कुछ कमाया, सब दान कर दिया, अब तो केवल तुम ही मिलो!' ये लोग भगवान्पर अहसान करते हैं कि 'हमने तुम्हारे लिए इतना किया, तो तुम भी हमारे लिए कुछ करो।'

वस्तुतः एक मनुष्यकी अंगुली या मालाका घिस जाना, धन लगा देना, भगवान्की कोई कीमत नहीं बनती। भगवान्की प्राप्तिके लिए उपायको समर्थ मानना गलत है। समस्त संसारमें ऐसा कोई मूल्य नहीं, जिसके बदलेमें भगवान् खरीदे जा सकें।

३. तीसरे वे लोग हैं, जो मानते हैं कि भगवान् स्वयं ही उपाय और उपेय हैं। स्वयं ही साध्य और साधन हैं। वे ही कृपा करके 'नाम' बनकर हमारी जीभपर आते और थोड़ी देर नाचते हैं। वे ही कृपाकर 'माला' बनकर हमारे हाथमें आते और थोड़ी देर घूमते हैं। वे ही कृपाकर हमारे हृदयमें आते हैं और थोड़ी देर 'ध्यान' के रूपमें परिणत होते हैं।

अनन्योपायसाध्यत्वे महाविश्वासपूर्वकम्।

विश्वास करो कि हमारे किये साधन नहीं होता। जब हम उन्मुख होते हैं कि 'प्रभो! हम तुम्हारी ओर चलना चाहते हैं, तुम्हें पाना चाहते हैं, तो भगवान् ही हमें शक्ति देकर वह साधन कराते हैं।

वेदान्ती 'अन्तर्मुख' शब्दका प्रयोग करते हैं तो भक्त 'उन्मुख'

शब्दका। अपनी ओर जाना हो, तो अन्तर्मुख हो जाओ और भगवान्‌की ओर जाना हो, तो उन्मुख।

कोई बौना ऊँचाईपर लगा फल तोड़नेके लिए उछल रहा है। कोई दयालु पुरुष देखता है कि बेचारा उछल तो रहा है, पर फलतक हाथ पहुँच नहीं पाता! अतएव वह स्वयं फल तोड़कर बौनेको दे देता है। ऐसे ही भगवान् जब देखते हैं कि यह जीव उपाय करते-करते थक गया, तो स्वयं ही अपनेको उसके सामने उपस्थित कर देते हैं।

इस तरह 'मदाश्रयः' का अर्थ हुआ, 'हमारे अपने साधनसे भगवान् मिलेंगे' यह अभिमान मत करो। भगवान् मिलेंगे तो अपनी कृपासे ही। उनपर विश्वास रखो कि वे ही साधन कराते और वे ही फल देते हैं।

असंशयं मां ज्ञास्यसि। इसके फलस्वरूप भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त होगा। भगवान् हमारे सामने हैं, और कहीं जा नहीं सकते। उनके पास कोई ऐसा पर्दा नहीं, जिसके अन्दर वे छिप जायँ। भगवान्‌के पास ऐसा कोई वस्त्र नहीं, जिससे वे अपना मुख ढँक लें और न ऐसा कोई कोना है, जहाँ जाकर छिप सकें। वे सब जगह भरपूर हैं और सब पर्दे, सब आवरण भी वे ही हैं। उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है हो नहीं। किन्तु साधारण मनुष्य उन्हें नहीं पहचान पाता। भक्त ही उन्हें पहचानता है। एक भक्त ने कहा है :

देख मृत्युका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
मेरे मालिक! मौतका रूप धरकर आओगे, तब भी तुम्हें पहचान लूँगा और नहीं डरूँगा।'

ईश्वर हमसे अलग होकर कहीं नहीं गया। उसकी प्राप्तिके लिए कोई प्रतीक्षा नहीं करनी है। सब रूपोंमें, सब जगह और सब समय वह है।

जो लोग 'नेति नेति' कहकर निषेध करते हैं, उनकी 'मुक्ति' तो हो जाती है; किन्तु यह प्रपञ्च भी उसीका स्वरूप है, यह अनुभव होना 'जीवन्मुक्ति' है।

क्षणमेकं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।

सबका ब्रह्मात्मरूपसे अनुभव होना—सब परमात्मा ही है, यह पहचान लेना ही विशेष बात है। न तो ईश्वरके पास जाना है, न उसे पाना है और न बनाना ही है। ईश्वर है; वही है, अभी है और यहीं है। केवल उसे पहचाननेकी जरूरत है। इसीलिए भगवान्ने कहा : 'ज्ञास्यसि।'

किसीको पता है कि मौसम्बी एक फल होता है; लेकिन कैसा होता है, यह उसने कभी नहीं देखा। ऐसी स्थितिमें सामने मौसम्बी धरी होनेपर भी उसे यह ज्ञान कभी नहीं होगा कि 'यह मौसम्बी है।' उसे बतलाना पड़ेगा कि 'जिसे तुम मौसम्बी कहते हो, वह यही है।'

ज्ञानसे अविद्यमान नहीं, विद्यमान वस्तुकी ही प्राप्ति होती है। वह ज्ञान ऐसा हो जिसमें संशय न हो। वस्तुतः संशय और विपर्यय ही ज्ञानके प्रतिबन्धक हैं। अतएव परमात्माका ज्ञान भी असन्दिग्ध होना चाहिए।

कैसे परमात्माका? तो कहते हैं : समग्रं माम्। समग्र परमात्माका ज्ञान होना चाहिए।

येन सर्वमिदं ततम् ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

अर्थात् अव्यक्तमूर्ति भगवान् द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस जगतरूपी कपड़ेमें सूतके रूपमें भगवान् हैं। संत रैदासजी कहते हैं :

प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी।
जाके अंग अंग बास समानी।।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा।
जैसे सोने मिलत सुहागा।।

स्वयं भगवान्‌ने भी कहा है कि 'तुम मोती हो तो मैं धागा' हूँ :

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

सूतके मनकोंमें जैसे सूत पिरोया हो या सोनेके मनके जैसे सोनेके तारमें पिरोये हों, ठीक इसी प्रकार सर्वके रूपमें जो मनके हैं, उनमें सूत्रस्थानीय भगवान् हैं। समग्र भगवान् ही हैं। माया नहीं, छाया नहीं, अविद्या नहीं, प्रपञ्च नहीं। केवल परब्रह्म परमेश्वर ही है। उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं। उसका ज्ञान किस प्रकार होगा, इसे भगवान् सुना रहे हैं :

तच्छृणु। मैं बोलूँगा और तुम सुनो। 'सुनो' कहनेका अभिप्राय है कि सावधान होकर श्रवण करो। ऐसी बात मैं तुम्हें सुनाने जा रहा हूँ कि इसमें तुम्हारा मन इधर-उधर चला जायगा तो बात समझमें नहीं आयेगी। ●

संगति :

भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं कि 'ऐसा ज्ञान तुझे बतलाता

हूँ जिसे जान लेनेपर दूसरा कुछ जानना बाकी नहीं रहता। भला सिवा इसे सर्वज्ञके कौन कह सकता है ?"

कभी-कभी ज्ञान परोक्ष भी होता है। जैसे अणुबम बनानेकी रीति है। उसकी ठीक धातु न मिलनेपर भी उसके गुण-धर्म समझा देते हैं। सुननेवाला समझ भी जाता है और बनाने योग्य हो जाता है। लेकिन यह जानकारी परोक्ष होती है।

प्रश्न उठा : 'स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको ज्ञानका उपदेश करने जा रहे हैं तो परोक्षज्ञानका उपदेश करेंगे या अपरोक्ष ज्ञानका ?

'अक्षेभ्यः परः परोक्षः'—जो इन्द्रियोंसे परे है, वह परोक्ष है। जैसे आप स्वर्गके विषयमें जानते हैं। मुसलमान-ईसाई भी जानते हैं कि 'बिहिश्त' होता है; लेकिन यह जानकारी परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। कारण, उन्होंने स्वयं जाकर स्वर्ग नहीं देखा। विश्वास-पूर्वक शास्त्रवचन द्वारा स्वर्गका अस्तित्व जानते हैं। तो' क्या भगवान् जिस ज्ञानका उपदेश करने जा रहे हैं, वह भी स्वर्गके समान (परोक्ष) ही है ? कहते हैं, नहीं :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुम्हें विज्ञानके साथ अशेषरूपसे वह ज्ञान बतलाता हूँ, जिसको जान लेनेपर यहाँ और कुछ जानना (ज्ञातव्य) शेष नहीं रह जाता।

ज्ञानं सविज्ञानम्। गीतामें 'ज्ञान', 'विज्ञान' शब्दोंका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्ममें कहा

गया है : ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। अर्थात् ब्राह्मणका स्वाभाविक कर्म है, ज्ञान-सम्पादन कर उसका अनुष्ठान करना। यहाँ पाठशालामें जाकर जो कुछ पाया जाता है, उसे 'ज्ञान' कहा है। वैदिक कर्मकाण्डादिका ज्ञान पुस्तकसे, आचार्यसे पाया जाता है और उसका 'विज्ञान' प्रायोगिक रूपसे पाया जाता है।

जहाँ-जहाँ सगुण पदार्थका ज्ञान होता है, वहाँ 'ज्ञान' भिन्न और 'विज्ञान' भिन्न होता है। गीतामें ज्ञान-विज्ञानका ऐसा भी वर्णन है : ज्ञान पहले होता है और विज्ञान बादमें। संसारकी सब वस्तुओंके विषयमें जानकारी पहले होती है और अनुभव बादमें। किन्तु निर्गुण-निराकार ब्रह्मके ज्ञानमें ज्ञान-विज्ञान पृथक् नहीं होते। अपरोक्ष साक्षात्कार होना ही वहाँ ज्ञान-विज्ञानकी परिसमाप्ति है। ऐसी अवस्थामें वहाँ इन दोनों शब्दोंका अर्थ विलक्षण ढंगसे करना होगा।

जहाँ सम्पूर्ण वेदान्त-ग्रन्थोंका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकता है, वहाँ प्रणवजन्य निश्चयको 'ज्ञान' कहते हैं। किन्तु उसमें यदि संशय-विपर्यय न रह जाय तो वह अदृढ़ ज्ञान होता है। उन्हें निकालनेके लिए जो मनन द्वारा संशयका और निदिध्यासन द्वारा विपर्ययका निवारण किया जाता है, उसे 'विज्ञान' कहते हैं। केवल अज्ञानकी निवृत्तिका जो हेतु है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। इस प्रकार मनन-निदिध्यासनसहित तत्त्वज्ञानका निरूपण भगवान् श्रीकृष्ण इस अध्यायमें करते हैं।

इसमें ज्ञान मुख्य है, तो विज्ञान उसका सहयोगी। जैसे : सभापति और उपसभापति। अज्ञानको पछाड़नेवाला प्रधान

मल्ल ज्ञान है। कंसको मारनेवाले श्रीकृष्ण ज्ञानरूप हैं और तो उसके अन्य सहायकों को मारनेवाले बलराम विज्ञानरूप। कंस= हिंसक—जो काट-काटकर टुकड़े कर दे, भेद पैदा कर दे—अज्ञान है।

ज्ञानं सविज्ञानम् : (भगवान् कहते हैं कि हम) ऐसे ज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसके साथ विज्ञान जुड़ा हो। गीतामें 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग कई रीतिसे किया गया है। एक 'ज्ञान' परमात्माका स्वरूप ही है। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस श्रुतिमें ज्ञान ब्रह्मका वाचक है।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् यहाँ 'ज्ञान'का अर्थ है :

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

वह 'ज्ञानगम्य' 'यानी ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। इसका अर्थ हुआ, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य अविद्या-निवर्तक ज्ञान। इस एक ही चरणमें उसे 'ज्ञानस्वरूप' और 'ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला' कहा गया है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

यहाँ ज्ञान के सात्त्विक, राजस, तामस, ये तीन भेद कर दिये गये हैं।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

यहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटीका वर्णन है। अतः विचार यह

करना है कि यहाँ पठित 'ज्ञान' तथा 'विज्ञानयुक्त ज्ञान' का क्या अर्थ है ?

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं : विशेष ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है और परमात्मज्ञान है 'ज्ञान'। 'परा प्रकृति' और 'अपरा प्रकृति'का ज्ञान तो विज्ञान है और परमात्माका ज्ञान है 'ज्ञान'।

एक महात्मा कहते हैं : 'ज्ञान यानी साक्षादपरोक्षानुभव और 'विज्ञान' है उसे प्राप्त करनेकी विशेष प्रक्रिया।

'अमरकोष'में 'विज्ञान' शब्द शिल्पकलाके लिए प्रयुक्त है। जैसे एक पत्थरमें खोदकर मूर्ति बनानी हो तो उस विषयकी जानकारी 'विज्ञान' है। लेकिन यह पत्थर किस प्रकारका है, यह 'ज्ञान' है।

कार्य परसे दृष्टि हटाकर कारणविषयक एकताको जानना ज्ञान है। एकमें से अनेक कैसे निकला, विविधता कैसे हुई, कर्म-विकर्म कैसे हुआ, सृष्टि-विसृष्टि कैसे हुई, इसे जानना विज्ञान है। कारणसे कार्यकी उत्पत्तिकी प्रक्रियाका जानना विज्ञान हैं। एक ही कारणमें सारा कार्य कैसे समा जाता है, इसे जानना 'ज्ञान' है।

कोई काश्मीर जानेका नक्शा लिये है। वह जानता है कि यहांसे दिल्ली और दिल्लीसे वायुयान द्वारा श्रीनगर जाना है। अथवा रेलद्वारा दिल्ली से पठानकोट और वहाँसे मोटरबससे श्रीनगर जाना पड़ता है। यह सब विवरण किसीने जान लिया; पर गया नहीं। काश्मीरका पूरा विवरण पढ़ लेनेसे सामान्य जानकारी तो हो गयी, पर विशेष जानकारी नहीं हुई। ऐसे हो वेदान्तकी बातें सुन लेना, 'नक्शा मालूम पड़ना' है साधनका उप-

योग कर जो काश्मीर पहुँचना है, वस्तुतः काश्मीर पहुँचना' है। नक्शा देखकर काश्मीरका विवरण जान लेना काश्मीर पहुँचना नहीं है।

ईश्वरकी ओर पहुँचना हो तो विज्ञान और ज्ञान दोनों ही प्राप्त करने चाहिए। बिना विज्ञानके जो ज्ञान प्राप्त करेगा, यदि उसमें संशय-विपर्ययरूप प्रतिबन्ध बना रह जाय, तो सच्चे ज्ञान-की प्राप्ति नहीं होगी।

ज्ञान प्राप्त होनेके बाद क्या करें और क्या नहीं, यह हम नहीं कहते। लेकिन ज्ञान प्राप्त होनेसे पहले जो करना चाहिए, उसपर ध्यान देना आवश्यक है।

एतदर्थं तीन बातोंका विवेक करना चाहिए :

१. वास्तविक सुख क्या है और दुःख क्या है?

२. चेतन क्या है और जड़ क्या है?

३. नित्य क्या है और अनित्य क्या है?

जहाँ तुम फँसे हो, क्या वह सच्चा सुख है? दिनभर पचीस-बार दुःखी होते हो—'यह दुःख आया, यह दुःख आया' और कहते हो 'हम है बड़े सुखी।' संसारमें कितने दुःख हैं, इसपर तो विचार करो।

कभी अपने मन लायक काम नहीं होता तो दुःख होता है। कभी अपने मनकी वस्तु नहीं मिलती तो दुःख होता है। कभी अपने मनके अनुसार सम्बन्धी नहीं चाहते, तो दुःख होता है। कभी अपने अभिमानपर चोट लगती है तो दुःख होता है। दुःख वस्तुतः अभिमानपर ही पड़ता है! जबतक अभिमान है, तब-तक दुःखकी चोट पड़ती ही रहेगी। मूर्ख लोग इसीको सुख समझते

हैं कि कोई हमें चोट न पहुँचाये। लेकिन बुद्धिमान् लोग सोचते हैं 'अपना अभिमान ही मिटा दो तो दुःख कभी नहीं होगा।'

दूसरेकी जीभ या क्रियापर प्रतिबन्ध चाहना मूर्खताका चिह्न है। हम अपने अहंको इतना स्निग्ध बनायें कि उसपर कोई चोट करे तो फिसल जाय। यही बुद्धिमानी है। संसारमें ग्राहक दूकानदारको और दूकानदार ग्राहकको बेवकूफ बनाना चाहता है, पर जिसे संसारमें कुछ नहीं चाहिए, क्या उसे कोई मूर्ख बना सकता है?

'हमें परमात्मा चाहिए, आत्मसाक्षात्कार चाहिए, अन्तःकरणकी शुद्धि चाहिए।' फिर तुम्हारा कोई सब कुछ ले भी ले तो क्या बने-बिगड़ेगा?

विचार करें कि विनाशी क्या है और अविनाशी क्या? संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो अविनाशी हो। ज्ञानके मार्गमें चलनेकी प्रक्रिया यह है कि दो ढेर बना दें: एक ओर दुःख, दूसरी ओर सुख। जब दुःखसे वैराग्य हो, तब सुखके मार्गपर चलें। क्या यह भी कोई मार्ग है कि रात-दिन दुःखकी ही चोट पड़ती रहे, रात-दिन मूर्ख ही बनना पड़े, सदैव विनाशी वस्तुओंमें ही फँसे रहें। अतः संसारकी ओरसे आँखें फेरकर ईश्वरकी ओर चलना ही विवेकका मार्ग है।

आप किसीसे प्रेम करें और जीवित रहें, पर वह मर जाय तो क्या होगा? रोते रहना पड़ेगा। जीव अजर-अमर और देह मरनेवाली है। अतः यदि देहसे प्रेम होगा तो देह मरेगी। देहसे सटनेवाली चीज भी मरेगी। लेकिन यदि अजर-अमर, अविनाशी वस्तु परमात्मासे प्रेम करें तो सदैव सुखी रहेंगे। मरनेवाली

वस्तुसे प्रेम करनेपर तो दुःखी होना ही पड़ेगा। अतः प्रेम करना ही हो तो ईश्वरसे प्रेम करें जो कभी नहीं मरता, कभी मूर्ख नहीं बनता, जिसे कभी दुःख स्पर्श नहीं करता और जो परमानन्द-स्वरूप है। यही विवेकका मार्ग है।

तात्पर्य यह कि ईश्वरके प्रति राग हो और जो ईश्वर नहीं, उसके प्रति वैराग्य। घृणा और द्वेष किसीसे न करें, पर उसके प्रति वैराग्यका भाव अवश्य रखें। वैराग्य यानी न राग और न द्वेष। उसकी याद ही न करें—वह मरे तो मरे, जिये तो जिये। जिसके स्मरणमें बन्धन, दुख और मृत्यु है, उसका स्मरण ही क्यों? उधरसे अपना मन हटा लें और भगवान्‌में लगायें। इसीका नाम है विवेक और वैराग्य।

विज्ञान यह है कि हम अपने मनके रहस्योंको, मनकी चालों-को समझें और उसे संसारसे समेटकर ईश्वरकी ओर ले चलें। नहीं तो यह संसार हमें बहुत दुःख देगा। एकबार इसमें किसीकी आसक्ति हो जाय, तो यह उ॰ नरकमें पटक देनेतक चैन नहीं लेगा।

यह विज्ञान है कि अपने मनको इधर संसारसे हटाकर धीरे-धीरे भगवान्‌में लगाये। भगवन्नाम का जप करें।

यह विज्ञान है कि अपने मनमें काम-क्रोध न आने दें।

यह विज्ञान है कि अपनी इन्द्रियोंको विषयसम्पर्कमें अधिक न आने दें। जीवन-निर्वाहके मार्गपर चलें। ज्यादा काम-धन्धा न बढ़ायें। कभी कोई दुःख आये तो दुःखके बदले दुःख देने न जायँ। किसीने गाली दी और उसके जवाबमें आपने भी गाली दे दी, तो संसारके वातावरणमें दो गालियाँ गूँजने लगेंगी। तीसरा दोनोंको

दुष्ट कहेगा। इस प्रकार संसारमें गालीका वातावरण बढ़ता जायगा। लेकिन एक गाली दे और दूसरा उसे सह ले, तो गालियोंकी परम्परा ही बन्द हो जाती है।

जीवनमें सहनशीलता, तितिक्षा आये, इसका मार्ग बतलाने-वाला कोई है या नहीं ? इसका विज्ञान यही है कि इसमें बतलाये मार्गसे चलना पड़ना है। इसीको 'श्रद्धा' कहते हैं। यह मनको बहुत हल्का कर चलनेका मार्ग है। जिसका मन हल्का नहीं, वह इस मार्गपर नहीं चल सकता।

या पै चलै न कोई गरबकी लैके गागरिया।
खोर है रसकी साँकरिया ॥

इसमें अभिमानका घड़ा सिरपर रखकर कोई नहीं चल सकता।

अति छीन मृणालके ताँतहुते
तेहिपै रखि पाँवको ठावनो है।
यह प्रेमको पन्थ करारो महा-
तरवारकी धार पै धावनो है॥

विज्ञानका अर्थ है, प्रयोगात्मक ज्ञान। अनुभव करते हुए आगे चलें। केवल जबानी जमा-खर्चमें ही फँसे न रह जायँ।

साधनका पहला कदम यही होना चाहिए कि हमारा मन हमारे बतलाये ढंगसे ईश्वरकी ओर चले भगवान्‌का नाम ले, भगवान्‌की पूजा करे और मनमें संसारसे छूटनेकी इच्छा उदित हो।

परम्परा साधन, बहिरंग साधन, अन्तरंग साधन सब विज्ञान है। इस विज्ञान द्वारा जो सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'वृत्ति-

ज्ञान' है। उससे अविद्याका नाश हो जानेपर जो शेष रहता है, वही परमात्मा है।

ते वक्ष्यामि : तुमसे कहूँगा। 'ते तुभ्यं वक्ष्यामि'—तुम्हारे हितके लिए कहूँगा। 'ते तव वक्ष्यामि—यह ज्ञान जो कहूँगा, वह तुम्हारा ही ज्ञान है, किसी अन्यका नहीं। 'ते तव अहं वक्ष्यामि'—मैं तुम्हारा हूँ। मैं बोलनेवाला कृष्ण तुम्हारा परमप्रिय मित्र हूँ; इसलिए तुमसे कहूँगा! सारांश, जैसे भक्त लोग भगवान्‌की शरण जाते हैं तो कहते हैं: 'प्रभो, मैं तुम्हारा हूँ,' वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं: 'मैं तो तुम्हारा ही हूँ।'

भगवान् जिसके अपने हों, उसके लिए कोई ज्ञान-विज्ञान दुर्लभ नहीं; क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानके निधान तो स्वयं भगवान् ही हैं और वे भक्तके हैं।

महाभारत-युद्धमें एक दिन रातमें अर्जुन और श्रीकृष्ण एकान्तमें बैठे थे। अर्जुनने कहा: 'कृष्ण! युद्धमें जय और पराजय दोनों सम्भव हैं। मान लें कि किसीके अस्त्रसे मैं मारा गया तो तुम क्या करोगे?'

यही प्रश्न कर्णने भी शल्यसे किया था: 'शल्य! तुम मेरे सारथि हो। यदि युद्धमें मैं अर्जुनके अस्त्रसे मारा गया, तो तुम क्या करोगे?'

शल्यने उत्तर दिया था: तुम मर जाओगे तो मैं अपने देश लौट जाऊँगा।'

लेकिन भगवान् श्रीकृष्णका उत्तर इससे सर्वथा भिन्न है। वे बोले: 'अर्जुन! पहली बात यह कि मैं रक्षक हूँ, तो कोई तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। फिर भी कदाचित् किसीका

ब्रह्मास्त्र तुम्हें मार ही दे तो मैं अपने हाथमें चक्र लेकर कौरवोंकी पूरी सेनाका संहार कर डालूँगा। यही नहीं, इस पूरे ब्रह्माण्डका प्रलय कर दूँगा। मैं अर्जुनके बिना नहीं रह सकता। कारण, मैं अर्जुनका हूँ और अर्जुन मेरा।'

महाभारतके उद्योगपर्वमें कथा है कि धृतराष्ट्रके द्वारा प्रेषित संजय पाण्डव-शिविरमें पहुँचे, तो श्रीकृष्णने उनको दो टूक जवाब दे दिया : धृतराष्ट्रसे जाकर कह देना कि कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः। अर्थात् अर्जुनकी आत्माका नाम श्रीकृष्ण है और श्रीकृष्णकी आत्माका नाम अर्जुन। श्रीकृष्ण और अर्जुन दो नहीं हैं। तत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्—एक ही सत्ता दो रूप धारण कर स्थित है। सृष्टिमें श्रीकृष्ण-सरीखा प्रेमका निर्वाह करनेवाला और कोई नहीं।

यहाँ वे ही श्रीकृष्ण कहते हैं : 'अहं वक्ष्यामि'—मैं वर्णन करूँगा।

दूसरा कोई वर्णन करे तो उसमें भ्रम-प्रमाद हो सकता है। वह ठग, विप्रलिप्सु हो सकता है। अथवा यह भी संभव है कि वर्णन करनेवालेकी बुद्धि तत्त्वका ठीक-ठीक ग्रहण न करती हो। लेकिन यहाँ तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'ते अहं वक्ष्यामि।' अतः इसमें किसी प्रकारके भ्रम-प्रमादादि सम्भव ही नहीं।

'वक्ष्यामि' यह क्रियापद 'ब्रूञ्' और 'वह्' दोनों धातुओंसे बनता है, जिसका क्रमशः अर्थ होगा : 'ज्ञानका 'मैं प्रवचन करूँगा' और 'उस ज्ञानका वहन करूँगा' अर्थात् तुम्हें प्राप्त कराऊँगा। सारांश, ऐसे ज्ञानका तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ, जो सदा बना रहे।

न तो अबतक इसका नाश हुआ है और न आगे ही होगा। यह ज्ञान अविनाशी है।

अशेषतः वक्ष्यामि। वर्णन भी थोड़े-घने अंशका नहीं, सम्पूर्णका करूँगा।

'अशेषतः' का अभिप्राय श्री वामन बापट जी यह बताते हैं: "वेदान्तकी रीतिसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान हो जानेपर दोनों तो एक हो गये, पर जगत्का क्या हुआ? यह ज्ञान तो हो गया कि 'आत्मा ब्रह्म है,' किन्तु 'जगत् भी ब्रह्म है,' यह ज्ञान अभी नहीं हुआ। अतः यहाँ 'अशेषतः' कहकर भगवान् सूचित करते हैं कि "आत्मा ब्रह्म है, यह ज्ञान तो मैं तुम्हें दूँगा ही, 'जगत् ब्रह्म है' यह ज्ञान भी दूँगा।"

नासिकमें लगभग सौ वर्ष पूर्व एक पण्डित हरिसूरि हुए थे। उन्होंने 'अशेषतः' पदका अर्थ किया है: "पहले भगवान् नारायण शेषको उपदेश करते हैं। फिर शेष सनत्कुमारादिको उपदेश करते हैं। तब सनत्कुमारादिकी परम्परासे लोकमें ज्ञानका विस्तार होता है। 'अशेषतः' का अर्थ है कि अभी शेषके श्रवण (कानों) में जो बात नहीं पड़ पायी, उस ज्ञानका मैं स्वयं नारायण तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। फलतः परम्परा-सुलभ ज्ञानमें जो ह्रास-विकास, तर-तमता आदि दोष आ सकते हैं, वे भी इसमें नहीं हैं।"

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते: पार्थ-सारथि भगवान् वैदिक सत्यका प्रतिपादन करते हैं: यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जिसे जान लेनेपर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।

भक्ति-मत है कि परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिका ज्ञान विज्ञान है। साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं। जिससे हमारे सामने साँवरे-सलोने व्रजराजकुमार आकर खड़े हो जायँ, उसका नाम 'विज्ञान' है और वे कैसे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, यह बात जिससे जानी जाय, उसका नाम है 'ज्ञान'। इस विज्ञान-सहित ज्ञानको जिसने जान लिया, उसके लिए कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

'यज्ज्ञानं ज्ञात्वा' : ज्ञानको जानना ही क्या, जब कि वह स्वयंप्रकाश है? लेकिन स्वयंप्रकाश होनेपर भी वह (ज्ञान) संशय और विपर्ययसे प्रतिबद्ध हो ही जाता है। अतः संशय-विपर्ययका निवारण करना ही असलमें ज्ञानको जानना है।

'सुख ईश्वरमें है या संसारमें?' यह संशय है और 'सुख संसारमें ही है,' यह उलटा निश्चय है विपर्यय। ऐसा उलटा निश्चय होनेपर संसारको प्राप्तिके लिए प्रयत्न करें तो वह 'अज्ञान' हो गया।

एक परमात्मा ही सत्य है—यह 'ज्ञान' है। उसीमें यह प्रपञ्च दीख रहा है—यह 'विज्ञान' है और प्रपञ्च सत्य है—यह है 'अज्ञान'।

'यज्ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म ज्ञात्वा' = तत्त्वमसि आदि महावाक्य-जन्य वृत्तिका विषय बनाकर ब्रह्मको जान लिया तो फिर इह = ज्ञान-विज्ञानके विषयमें 'अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते' = दूसरा कुछ पुनः ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। श्रुति कहती है :

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।

अर्थात् जिसे जानकर मानव अमृत-अविनाशी हो जाते हैं, सत् हो जाते हैं, जिसे जानकर आनन्दरूप हो जाते हैं, संसारके सब पाश कट जाते हैं, बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं; जिसे जाननेपर जड़ता-अज्ञान कभी नहीं आ पाता। उसे जान लेनेपर मृत्यु नहीं, बन्धन नहीं, दुःख नहीं और अज्ञान भी नहीं; क्योंकि कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। उस परमात्माका ज्ञान हो जानेपर सर्वका ज्ञान हो जाता है।

'ज्ञातव्यं नावशिष्यते' : फिर दूसरा कुछ भी जाननेके लिए बाकी नहीं रह जाता। जिसने सोनेको जान लिया, उसके लिए कौन-सा कड़ा है, कौन-सा कंगन या कौन-सा कुण्डल है, यह पहननेके लिए जानना तो शेष है; लेकिन धातु तो सबकी स्वर्ण ही है, यह जान ही लिया। जिसने मिट्टी जान ली, उसने सकोरा, घड़ा सारी मृण्मय वस्तुएँ जान लीं।

उपनिषद्‌में वर्णन है कि जब श्वेतकेतु पढ़कर लौटा तो उसे अभिमान बढ़ गया। श्वेतकेतु अर्थात् सफेद झंडेवाला—अत्यन्त शुद्धाचरण, निर्मल, बड़ा विद्वान् होकर लौटा था। लेकिन समझता था कि 'मेरे पिता अनपढ़ हैं।' फलतः उसने उन्हें प्रणाम नहीं किया।

पिताने पूछा : 'क्या तूने वह विद्या पढ़ी जिस एकके जाननेपर सबका ज्ञान हो जाता है?'

श्वेतकेतु : 'यह सम्भव ही नहीं। क्या कभी कहीं एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो पाया है? फिर, मेरे गुरुजी यदि यह बात जानते, तो मुझे अवश्य बतलाते।'

पिता : 'जब एक मिट्टीके ज्ञानसे घड़े-सकोरे सबका ज्ञान हो जाता है; एक सोनेके ज्ञानसे हार, कंकण, कुण्डलादि सबका ज्ञान हो जाता है, तो उस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान क्यों नहीं हो सकता, जो सृष्टिका अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ?'

बस, श्वेतकेतुका अभिमान टूट गया। फिर उसने पितासे ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति की।

२. ज्ञानकी दुर्लभता

संगति

यह ज्ञान अतिसरल नहीं; क्योंकि इसे प्राप्त करनेकी लोगोंको इच्छा ही नहीं होती। लोहे-लकड़ीसे लोगोंको संतोष हो जाता है। भोजन-वस्त्र मिल गया, भोग जुट गये, घरमें एक पलटन खड़ी गयी, मकान बन गया, तो कहते हैं : 'अब हम संसारमें कृतकृत्य हो गये !' लेकिन आप सोचें कि फर्नीचर, लोहा-लकड़ी आदि तो बहुत आ गया, पर मनुष्यता आयी या नहीं ? हम किसी एकके घर गये थे तो उन्होंने बतलाया : 'हमारा ड्राइंग-रूम एक करोड़ रुपयेका सजा है।' इस तरह आपके घरमें जड़ वस्तुएँ तो बहुत सारी आ गयीं; पर चेतन-ज्ञान कितना आया ?

भर्तृहरिजी कहते हैं :

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

मनुष्य भोगके लिए प्रयास करता है, जो रोगके मूल हैं। भोगोंने ही हमें भोग डाला है। भोजन समाप्त नहीं हुआ और दाँत घिस गये। रोटी-सब्जीने ही दाँतोंको खा लिया।

तप नहीं तपा गया, हम ही तप गये। समय कटा नहीं, हम ही

कट गये—काल बना हुआ है और हम बीतते जा रहे हैं। लोभी समाप्त नहीं हुआ, हम ही समाप्त हो गये।

मरनेके दिनतक लालच बनी रहती है—अगली पीढ़ी और अगले जन्मके लिए भी। हम भोग भोगने और धन संग्रह करनेमें बड़े निपुण हैं; पर परमात्माको, आत्माको, सत्यको भूल गये हैं। अतः देखें कि आपके जीवनमें सचाईका ज्ञान कितना आया, सच्चा आनन्द कितना मिला, जीवनमें सच्चरित्रताका कितना प्रवेश हुआ ?

मनुष्य अपने मनसे एक वातावरण बनाता है और उसीमें फँस जाता है। 'मनसा सीव्यति इति मनुष्यः'—निरुक्तमें 'मनुष्य' शब्दकी यह व्युत्पत्ति दी हुई है कि जो मनसे सी लेता है, वह मनुष्य है। हम सूईसे एक कपड़ेको दूसरे कपड़ेके साथ सी देते हैं तो दोनों कपड़े परस्पर बँध जाते हैं। ठीक ऐसे ही जो मनसे दूसरोंको अपने साथ सी ले, सम्बन्ध बना ले, उसे 'मनुष्य' कहते हैं। जैसे पैसेको साथ सी लिया : 'पैसा मेरा, मैं पैसेवाला।' ऐसे ही अन्य वस्तुओंके साथ, व्यक्तियोंके साथ अपनेको जो सी लेता है, अर्थात् जो 'तेरा मैं, मेरा तू' यह मेरा-तेरा बनाता फिरता है, उसीका नाम मनुष्य है।

पशु-पक्षियों और देवताओंमें भी सम्बन्ध जोड़नेकी यह प्रवृत्ति विशेष नहीं पायी जाती। पशु-पक्षी बहुत समयतक याद नहीं रख पाते कि यह मेरा पुत्र या भाई है। 'बन्धन'का नाम ही सम्बन्ध है। इसे श्रेष्ठ मानकर बँधना सोनेकी हथकड़ी-बेड़ी पहनना है।

एकके लिए कोई लोहेकी हथकड़ी-बेड़ी ले आया तो उसने झटक कह दिया : 'हम नहीं पहनते इसे।' फिर वह सोनेकी हथकड़ी-बेड़ी ले आया तो बोले : 'प्यारे भाई ! पहना दो। भले ही हथकड़ी-बेड़ी

हो, पर सोना तो पहननेको मिलेगा।' इस प्रकार जो अपनेको स्वयं बन्धनमें डाल ले, वह मनुष्य है। इसीने सम्बन्ध गढ़-गढ़कर स्वयं-को बाँध लिया है :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अर्थात् हजारों मनुष्योंमें एकआध कोई सफलताके लिए प्रयत्न करता है। ऐसे सिद्धिप्राप्तोंमें भी कोई एक मुझे तत्त्वतः जानता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु : पहली बात यह कि 'प्राणिनां सहस्रेषु कश्चिद् मनुष्यो भवति'—करोड़-करोड़ प्राणियोंमें कोई मनुष्य होता है। अनादि कालसे अबतक कर्मके अनुसार ईश्वरके साहाय्यसे प्राणी भवसागरमें डूबता-उतरता रहता है। जब उसके पाप और पुण्य दोनों कर्म किंचित् शिथिल हो जाते हैं तो दोनोंके मिश्रणसे मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। पुण्यकी प्रधानतासे देवादि योनियाँ तो पापकी प्रधानतासे नारकीय या तिर्यक् योनियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु जब जीवके धर्माधर्म प्रायः समकोटिमें आ जाते हैं, तब वह मनुष्ययोनिमें आता है। इसीलिए मनुष्यमें यह विशेषता है कि वह अपने पुरुषार्थसे जिधर चाहे उधर बढ़ सकता है। धर्म करे तो अनादिकालसे अबतकके धर्मके संस्कार जागृत हो जायँगे और आप धर्मात्मा बनकर आगे बढ़ेंगे। इसके विपरीत अधर्म करेंगे तो अनादि कालसे अबतकके किये अधर्मके संस्कार जागृत हो जायँगे और आप नरककी ओर बढ़ेंगे। इस तरह यह मनुष्ययोनि स्वतन्त्र योनि है।

मनुष्य शरीर-सम्बन्ध बनानेवाला है। अतः यदि सम्बन्ध ही

बनाना है, तो सिद्धिके लिए किये जानेवाले प्रयत्नसे अपना सम्बन्ध बनायें। अर्थात् एक मन्त्र बनायें—'यह मेरा मन्त्र है।' एक इष्ट बनायें। साधनाकी एक पद्धति स्वीकार करें। अपने प्रयत्नके साथ ऐसा सम्बन्ध जोड़ें कि 'जन्म-जन्ममें यही साधना करेंगे।'

मनुष्याणां सहस्रेषु : जिसके लिए कोई प्रत्यक्ष बन्धन नहीं, पर जो अपने मनसे बँधा है, ऐसे सहस्रों मनुष्योंमें। 'शतम् सहस्रम्' शब्द अनन्तके वाचक होते हैं। अर्थात् अगणित मनुष्योंमें कोई मनुष्य होता है, जो सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है।

सिद्धिका अर्थ है अन्तःकरणकी शुद्धि।

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'
'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।'
'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।'

इस वचनोंसे गीतामें 'सिद्धि' शब्दका प्रयोग सफलता और अन्तःकरणकी शुद्धि—इन दो अर्थोंमें किया गया है।

'सहस्रेषु' यह बहुवचन है। इसका अर्थ हुआ : कमसे कम तीन सहस्र मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य ऐसा निकलता है, जो यह चाहे कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो।

मेरे पास वर्षभरमें कोई एक-दो आदमी ऐसे आते हैं, जो कहते हैं : 'हमें भगवान्‌का दर्शन करा दें। ऐसे लोग भी आते हैं, जो कहते हैं : 'हमें तत्त्वज्ञान कैसे मिले ? लेकिन दो-दो, चार-चार वर्षमें भी कोई ऐसा नहीं आता जो यह कहे कि 'हमारा अन्तः-करण शुद्ध कर दें।' सारांश, लोग अपवित्रता, दुर्गुण छोड़नेके

लिए राजी नहीं, भले ही कभी-कभी ईश्वरको पानेके लिए राजी हो जायँ।

'मनुष्याणां सहस्रेषु' : पहले मनुष्य ही होना दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी शास्त्रोंपर विश्वास होना और कठिन है।

स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते।

अर्थात् जिनके पुण्य अल्प होते हैं, वे ईश्वर, शास्त्र या गुरुपर विश्वास ही नहीं कर पाते। उन्हें यही विश्वास नहीं होता कि शास्त्र, गुरु या ईश्वर हमारी भलाई चाहते हैं।

शास्त्रपर विश्वास हुआ भी तो लोग लोक-परलोकमें फँस जाते हैं। शास्त्रपर विश्वास होकर मनुष्य ईश्वरका भजन करे और उस भजनसे ईश्वरको ही प्राप्त करना चाहे, वह भजन भी ईश्वरकी कृपा है, ऐसा अनुभव करे—यह बड़ा ही दुर्लभ है।

ऐसा प्रयत्न करनेवालोंमें भी हृदय निर्मल हो जाय, ईश्वराकार हो जाय, यह बड़ा कठिन है। क्योंकि हृदयमें संसारका चिन्तन न हो, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं :

प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते।

अर्थात् प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का चिन्तन भी साथमें हो। मनमें व्याकुलता, लालसा, मुमुक्षा हो। ईश्वरसे मिलने, अपने आपको ईश्वरमें मिला देनेकी लालसा हो। इस सिद्धिके लिए कोई-कोई ही प्रयत्न करते हैं।

'मनुष्याणां सहस्रेषु' : इसकी व्याख्यामें श्री रामानुजाचार्य महाराज कहते हैं : "यहाँ मनुष्य पदका अर्थ 'मनुष्ययोनि' नहीं, बल्कि 'मनुष्याणाम्' का अर्थ है 'शास्त्राधिकारिणाम्।' अर्थात् जो

शास्त्रके अधिकारी हैं। 'मनुष्यस्य हि शास्त्राधिकारित्वात्'—क्योंकि मनुष्य ही शास्त्रका अधिकारी है। सन्ध्या, हवन, शास्त्र-विधान पशु-पक्षीके लिए नहीं, केवल मनुष्यके लिए ही है। 'ब्रह्म-सूत्र'के देवताधिकरणमें यह माना गया है कि देवता भी, यदि वे शम-दमादि साधनसम्पन्न हों, ब्रह्मज्ञानके अधिकारी हैं। अतः यहाँ 'मनुष्याणाम्' का अर्थ मनुष्ययोनिमें उत्पन्न नहीं है। देवता या पशु-पक्षियोंको भी यदि धर्माधर्मका ज्ञान है तो उन्हें भी यहाँ मनुष्य शब्दसे कहा गया है। देवताओं और पशुओंमें भी कोई-कोई सिद्धि-लाभके लिए प्रयत्न करते हैं।"

श्री वल्लभाचार्यजी महाराज यहाँ 'मनुष्य' पदका अर्थ और गम्भीर करते हैं। वे कहते हैं: 'भगवत्सेवौपयिकशरीरवान्।' अर्थात् भगवान्‌की सेवाके लिए उपयोगी जिसका शरीर है, वह मनुष्य है। कोयल 'कुहू-कुहू' कर अपने स्वरसे भगवान्‌को प्रसन्न करती है तो वह कोयलका शरीर भी भगवत्सेवाके उपयुक्त है। आखिर गीध जटायु भी तो भगवद्भक्त रहा। काकभुशुण्डि भी भग-वान्‌के भक्त हैं। गिरिराज गोवर्धनकी शिलाएँ-गुफाएँ भी भगवत्-सेवौपयिक हैं। मनुष्य ही नहीं है, वे शिला भी श्रेष्ठ हैं, जिन-पर गोपसखाओंके साथ श्रीकृष्ण बैठते, खेलते, भोजन करते हैं। अतः भगवत्सेवाके लिए उपयोगी शरीरमात्र, आकारमात्रका नाम यहाँ 'मनुष्य' है; दो हाथ और दो पैरवाले पशुका नाम ही मनुष्य नहीं।

इस तरह 'मनुष्य' शब्दका अर्थ हुआ: 'जो संसारसे सम्बन्ध बनाता है, वह भगवान्‌से सम्बन्ध बनाने लग जाय। जो शास्त्रका अधिकारी हो। जिसका शरीर भगवान्‌की सेवाके उपयुक्त हो।"

भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्यका अभिप्राय है: सत्, चित्, आनन्द

अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म है। नाम-रूप जगत् है। जिस नाम और रूपमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति अधिक हो, वह 'मनुष्य' है।

पत्थरमें सत्की अभिव्यक्ति हुई, पर चित् और आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। पशु-पक्षीमें सत्-चित् दोनोंकी अभिव्यक्ति हुई, पर आनन्दकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। जिसमें सत् अर्थात् सच्चरित्रता, चित् अर्थात् सत्यको समझनेवाली बुद्धि और आनन्द अर्थात् परमानन्दके अनुभवकी योग्यता, ये तीनों अभिव्यक्त हों, वह मनुष्य है।

दैत्य-शरीरमें ज्ञान होना बहुत कठिन है; क्योंकि वे क्रोधी होते हैं। देव-शरीरमें भी ज्ञान होना बहुत कठिन है; क्योंकि उन्हें भोग बहुत प्रिय हैं। जो काम या क्रोधसे व्याकुल हो रहा है, उसकी बुद्धिके लिए ब्रह्म-चिन्तनका अवसर ही कहाँ? कामी देवताके लिए ज्ञान दुर्लभ, क्रोधी दैत्यके लिए ज्ञान दुर्लभ तो लोभी मनुष्यके लिए भी ब्रह्मज्ञान दुर्लभ है।

देवता पुण्यका नाश करके भी भोग भोगते हैं। दैत्य क्रोधमें अपने सर्वस्व तकका नाश कर लेते हैं। मनुष्य लोभी है। वह संग्रह करनेके चक्करमें पड़ जाता है, यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। वह किसलिए इतना इकट्ठा कर रहा है, इसीका उसे पता नहीं है।

अतः 'मनुष्याणां सहस्रेषु'का अर्थ है, जिसका पूर्वजन्मीय पुण्य-परिपाक हो चुका है और जिसपर ईश्वरकी कृपा हो गयी है, वह।

कश्चिद् यतति सिद्धये : मैंने बचपनमें अवधूत-गीता में एक श्लोक पढ़ा था :

> ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
> महाभयपरित्राणा द्वित्राणामुपजायते॥

किन्तु यह है खण्डनखण्डखाद्य का श्लोक। श्रीहर्ष मिश्र जैसा प्रकाण्ड तार्किक, अनिर्वचनीयतावादका मूलप्रवर्तक भी कहता है कि जब ईश्वरकी कृपा होती है, तभी ईश्वरकी ओर चलनेका संकल्प उदित होता है।

सबसे बड़े दुर्भाग्यकी बात यही है कि मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी ओर चलनेकी इच्छा ही उदित नहीं होती।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

लोकमें तीन बातें बहुत दुर्लभ हैं और ईश्वरकी बड़ी कृपा होनेपर ही मिलती हैं। वे हैं: १. मनुष्य होना, २. मनमें मोक्ष पानेकी इच्छा होना और फिर ३. किसी महापुरुषका आश्रय लेना। इसीलिए भगवान् कहते हैं: 'कश्चिद्यतति सिद्धये।'

मनुष्य होनेपर भी आगे बाधाएँ बहुत आती हैं। वहाँ भी किसीकी आसक्ति धनमें, किसीकी गद्दीमें, किसीकी भोगमें, किसीकी प्रसिद्धिमें होती है। रुकावटें बहुत हैं। बुद्धिमान्, विद्वान्, धनी, गुणी संसारमें बहुत हैं; किन्तु विद्या, बुद्धि, धन, गुण होनेसे ही कोई भगवान्की ओर नहीं चलता। सत्कर्मका परिपाक हो तभी ईश्वरकी ओर जानेकी रुचि होती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने मानससरोवरके वर्णनमें बड़ा सुन्दर चित्रण किया है:

यहि सर आवत अति कठिनाई।
रामकृपा बिनु आइ न जाई॥
जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई।
जातहिं नींद जुड़ाई होई॥

'सिद्धये यतति': 'यतति = प्रयत्न करता है। यह 'यती प्रयत्ने'

धातुसे बना है। आकाशमें उड़ने या कोई वस्तु कहींसे ला देनेका देनेका नाम सिद्धि नहीं। सिद्धि है अन्तःकरणकी शुद्धि'। 'सिद्धि' शब्दका अर्थ ही आराधना है : 'राध-साध संसिद्धौ।'

जब मनमें बिना प्रयास ईश्वरकी आराधना चलने लगे तब समझें कि सिद्धि मिल गयी। सिद्धि यह है कि भगवान्‌की याद आये, नामोच्चारण होता रहे, मन सत्संगमें रम जाय।

इस सिद्धिके लिए महापुरुषोंने अनेक पद्धतियाँ निकालीं हैं। इनमेंसे चार-पांच का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं : 'इस प्रयत्नमें सात बातें आवश्यक हैं : १. विवेक, २. विमोक, ३. अभ्यास, ४. कल्याण, ५. क्रिया, ६. अनवसाद और ७. अनुद्धर्ष। यह 'साधन-सप्तक' कहलाता है।

१. विवेक : भोजन क्या करते हैं, यह देखें। जो जन्मसे ही अपावन वस्तु है, उसे न खायें। पवित्र वस्तुमें अपवित्र वस्तु न मिली हो। जैसे दूध पवित्र है, पर उसमें अंडा पड़ गया या कौआ जूठा कर गया तो वह अखाद्य हो गया। भोजनमें आश्रय-दोष भी न हो। बर्तन, भूमि आदि शुद्ध हों। बनानेवाला कामी, क्रोधी, अपवित्र न हो। ईमानदारीकी कमाईका द्रव्य हो, जो आप खाते हैं उसपर धर्मशास्त्रकी रीतिसे आपका स्वत्व हो। इस प्रकार आहार-शुद्धिका विवेक रखेंगे तो आपका मन शुद्ध होगा।

भगवत्पाद श्री शंकराचार्यने केवल जीभके ही भोजनको नहीं सब इन्द्रियोंके भोजनपर ध्यान रखनेको कहा है। आप क्या देखते, खाते, छूते, सूंघते, सुनते हैं, इन सबपर ध्यान रखें :

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

२. विमोक : त्याज्य पदार्थ, क्रियाको त्याग देना ।

३. अभ्यास : अपने साधनकी आवृत्ति ।

४. कल्याण : कल्याणकारी पदार्थ तुलसी, तीर्थादिका सेवन करना ।

५. क्रिया : भगवत्सेवा, पूजादिमें तत्पर रहना ।

६. अनवसाद : बहुत दुःखी न होना ।

७. अनुद्धर्ष : हर्षसे फूल न जाना ।

दूसरी पद्धति है : कर्मकी शुद्धि । तुम पैरसे कहाँ जाते हो ? हाथसे क्या करते हो ? जीभसे क्या बोलते हो ? त्वचासे क्या छूते हो ? मूत्र एवं मल-त्यागके सम्बन्धमें भी नियम हैं या नहीं ? इन सबको पवित्र रखो अर्थात् धर्मानुष्ठान करो । भोग पवित्र हो और कर्म पवित्र हो ।

तीसरी बात है : भाव पवित्र हो । किसीको देखकर दुर्भाव मत करो कि यह चोर या अनाचारी है । सबमें भगवान् हैं । मनमें बुरे भाव मत लाओ ।

बुद्धिकी पवित्रता : संसारका चिन्तन छोड़ दिया । चित्तमें समाधान हो गया । मन निर्विषय बैठा है ।

सबमें उत्तम पवित्रता यह है कि एकमात्र ईश्वर ही पवित्र है । पवित्र हैं एकमात्र ब्रह्म । अन्तःकरण उस पवित्रमें स्थित हो जाय । चिन्तन ही अन्तःकरणका स्वरूप है । अन्तःकरण शुद्धका चिन्तन करता है तो शुद्ध और अशुद्धका चिन्तन करता है तो अशुद्ध हो जाता है । अतः परमात्माका चिन्तन ही अन्तःकरणकी शुद्धि है ।

भोजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि, कर्मसे शुद्धि, भावसे शुद्धि, विचारसे शुद्धि और परमात्माके चिन्तनसे शुद्धि, इन पाँच बातोंमें से एकके भी धारणका जो प्रयत्न करते हैं, उनमें क्या सबका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है ? नहीं।

यततामपि सिद्धानाम्। 'यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति। सिद्धानामपि कश्चिन्मां वेत्ति।' अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रयत्न तो बहुत करते हैं; किन्तु एक ही जन्ममें अन्तःकरण शुद्ध होना निश्चित नहीं। सद्गुरुकी कृपा हो, तब तो अन्तःकरणकी मलिनता वह हटा दे और भीतर बैठे परमात्माका दर्शन करा दे। अथवा भगवान्‌की कृपा हो तो वे स्वयं 'ज्ञानदीपेन भास्वता' अन्धकार हटा दें।

इसमें 'अभिमान' ही सबसे बड़ा पाप है और 'श्रद्धा' अभिमान-रूप पापको दूर करनेका रसायन है। एक महात्माने कहा : "यदि तुम यज्ञ करते हो, विद्या पढ़ते हो और उससे अभिमान बढ़ता है कि 'मैं बड़ा भारी याज्ञिक या बड़ा विद्वान् हूँ' तो पाप बढ़ रहा है। लेकिन कभी पापकर्म हो गया, उससे पश्चात्ताप हुआ, ग्लानि हुई और अपने अभिमानकी निवृत्ति हो गयी तो तुम्हारे बुरे कर्मने भी तुम्हें मार्गपर पहुँचा दिया।"

एक मनुष्य नदी पारकर घर जाना चाहता था। उसका पैर फिसल गया। वह नदीमें गिर पड़ा। लेकिन नदीकी धाराने उसे बहाकर पार लगा दिया तो नदीमें गिरना ठीक नहीं था; किन्तु ईश्वरकी कृपाने उसे पार कर दिया। इसी प्रकार पापकर्म तो अच्छा नहीं; लेकिन अभिमान तोड़नेके लिए कभी-कभी जीवनमें वह ईश्वरके अनुग्रहसे आता है। इससे मनुष्यके बड़प्पन-का गर्व टूट जाता है।

'यततामपि कश्चित् सिद्धो भवति' : प्रयत्न करनेवालोंमें कोई-कोई सफल होता है।

सिद्धानामपि कश्चिन्मां तत्त्वतः वेत्ति। सफल होनेवालोंमें भी कोई-कोई मुझे तत्त्वतः जानते हैं। सब शुद्धान्तःकरण मुझे नहीं जानते। अयोध्यामें, चित्रकूटमें, वृन्दावनमें, पण्ढरपुरमें, गंगा-किनारेके विरक्तोंमें बहुत-से लोग शुद्धान्तःकरण हैं; किन्तु वे सबके सब ब्रह्मविद् नहीं हैं।

बर्तनको शुद्ध कर लिया, माँज लिया, यह दूसरी बात है और उसमें खीर पकाकर खा लिया, यह दूसरी बात। अन्तःकरण तो पात्र है। उसे शुद्ध कर लिया, आगमें तपा लिया, माँज लिया, गंगाजलसे धो लिया; पर अभी उसमें अमृत तो आया नहीं।

भगवान् श्री शंकराचार्य कहते हैं : 'इसमें डरना नहीं। शुद्धान्तःकरणवालेको भी यदि ब्रह्मविद् गुरु न मिले तो उसे ज्ञान कैसे होगा?' सद्गुरु-कृपाका जो अधिकारी बनता है, वह मुझे तत्त्वतः जानता है।'

'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति'—प्रयत्न करनेवालोंमें ईमानदारीसे कोई प्रयत्न करेगा, तो वह निश्चय ही सिद्ध-सफल होगा।

ईमानदारी सबसे बड़ी चीज है। मनुष्यकी नीयत खराब न हो और उससे बुरा काम हो जाय तो ईश्वर उसे बुरा नहीं मानता। नीयत खराब हो, काम अच्छा कर रहा हो तो वह ईश्वरको पसन्द नहीं। लोग गंगाजीके घाटपर स्नानकर, माला लेकर, भस्म लगाकर, सबेरे पहुँच जाते हैं। दो-चार घंटे वहीं बैठकर भजन करते हैं। घाट, बाट, हाटका भजन सावधान

रहनेकी वस्तु है। भजन करना बहुत अच्छा, पर नीयत वहाँ कम ही ठीक रहती है। नीयत ठीक हो तो जो मार्गमें चलता है, उसीका पैर फिसलता है। जो चलेगा ही नहीं, उसका पैर क्या फिसलेगा ? पैरका फिसलना या गिर जाना मनुष्यका अपराध नहीं। प्रमाद-असावधानी दोष तो है; पर पैर फिसलनेके बाद या गिरनेके बाद फिर न उठना, आगे न चलना उससे बड़ा, भारी अपराध है।

ईश्वरकी ओर चलनेकी नीयत सच्ची होनी चाहिए, फिर टूटी कमरसे लठिया टेकते, गिरते-पड़ते भी पहुँच सकते हैं; क्योंकि उठानेवाला हाथ बहुत लम्बा है। हम जहाँ होंगे वहींसे वह उठा लेगा। यदि हम अपनी ओरसे बार-बार चेष्टा करते रहें तो हम तो नहीं पहुँच पाते; पर भगवान् इस चेष्टाको देखकर उठा लेता है—अपने पास बुला लेता है।

यदि ईमानदार साधक ईश्वरकी ओर चलेगा और बीचमें भटक जायगा, संसारसे प्रेम करना चाहेगा तो ईश्वर उसे एक चाटा देगा और अपनी ओर खींच लेगा। उसे भगवान् भटकने नहीं देंगे। श्री शंकराचार्य कहते हैं: 'जो ईमानदारीसे प्रयत्न करता है, वह सिद्ध होता ही है।'

भगवान् शंकराचार्यका मत है: 'जीव ही अविद्याके कारण कर्ता-भोक्ता बना है। आत्मा अपनेको अविद्याके कारण ब्रह्म न जानकर कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न मान बैठा है। इसलिए अविद्या-निवृत्तिका सारा प्रयत्न जीवको ही करना पड़ता है। जब वह अविद्याको निवृत्त कर लेता है तब परमात्मा तो अपना स्वरूप है—मिला-मिलाया है।' अतएव यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः इस मन्त्रके अर्थमें वे कहते हैं: एष साधकः यं पर-

मात्मानं वृणुते तेन वरणेन लभ्यः। अर्थात् यह साधक जब परमात्माका वरण करता है, तब उस वरणसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं: एष परमात्मा यं साधकं वृणुते तेन साधकेन लभ्यः। भगवान् जिसे पसन्द करते हैं, उसे प्राप्त होते हैं।'

निर्गुणवादमें पहले साधक वरण करेगा; क्योंकि निर्गुण परमात्मा अपनी ओरसे कोई चेष्टा कर नहीं सकता। साधक वरण करेगा और साधक ही आवरण-भंग करेगा, तब परमात्माकी प्राप्ति होगी।

सगुणवादमें ईश्वर बड़ा कृपालु है। जिसे वह योग्य अधिकारी देखता है, उसके पास निमन्त्रण-पत्र भेज देता है।

'ये यतन्ति ते सिद्ध्यन्ति' : जो प्रयत्न करते हैं, वे सिद्ध होते हैं और 'ये यतन्ति तेषु कश्चित् सिद्धो भवति' उन प्रयत्न करने-वालोंमें कोई सिद्ध होते हैं—आचार्योंके ये दो मत हैं।

एकबार किसीने परमहंस रामकृष्णजीसे पूछा : 'सिद्धकी क्या पहचान है?'

परमहंसजी : 'सिद्ध पका भात है।'

'भक्तमपि अहंकारकणिकारहितम्' : वे अलग-अलग रहकर भी अहंकार-कणिकासे रहित होते हैं। अहंकाररहित होनेसे ही पर-मात्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो जाता। तत्त्वतः जो जीवत्व-ईश्वरत्वका भेद है, उस भेदकी मूलभूता अविद्या जब निवृत्त हो जाती है, तभी कैवल्य या मोक्ष होता है।

जिसे परमात्मप्राप्ति हो जाती है, उसे लौटना नहीं पड़ता :

न स पुनरावर्तते।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता, वह भगवान्का परम धाम है।

अनावृत्तिः शब्दात्। —(ब्रह्मसूत्र)

मुक्तिसे पुनरागमन नहीं होता।

कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। जिनपर सद्गुरुकी कृपा है, वेद-पर, तत्त्वमसि आदि महावाक्योंपर जिनकी श्रद्धा है, अन्तःकरण निर्मल है, ईश्वरका प्रसाद प्राप्त है, वे ही तत्त्वतः जानते हैं।

प्रश्न होगा : 'तत्त्वतः परमात्माको जाननेका क्या अर्थ है ?'

नामसे तो बहुत-से लोग जानते हैं। हम कलकत्ते जाते थे तो छोटे-छोटे बच्चे आकर कहते थे : 'स्वामीजी ! हमें भगवान्का दर्शन करा दो ! हम चित्र दिखा देते तो वे कहते : 'ये नहीं, असली।'

आकारको भी लोग जानते हैं : साँवले, गोरे, चतुर्भुज, द्विभुज आदि। गुणसे भी जानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, दयालु, अचिन्त्य है। लेकिन नाम, रूप, गुण, प्रभावको जानना उन्हें तत्त्वतः जानना नहीं है। पहले तत्त्वको जानो, तब तत्त्वसे भगवान्को जानो।

आप सेबफ़लको जानते हैं। कई लोग हाथमें उठाकर उसका ठीक-ठीक वजन बतला देते हैं। स्वाद बतलाना हो तो जीभपर रखकर बतला देते हैं। कई लोग देखकर ही बतला देते हैं कि खट्टी होगी या मीठी। सेबके वजन, गन्ध, स्वादको जानना उसका गुण जानना है। उसका रंग आकारादि जानना भी गुण ही जानना है। स्वाद, गुण, गन्ध आदि उसका तत्त्व नहीं है। वह

कब सड़ेगा, यह स्वभाव जानना है। उसे खानेपर शरीरमें क्या शक्ति आयेगी, यह भी गुणज्ञान ही है। तत्त्वतः सेव क्या है? उसमें कुछ मिट्टी, कुछ पानी, कुछ आग, कुछ हवा और कुछ आकाश हैं, यह तत्त्वतः सेवका विवेचन है।

सब फल-फूलों आदिमें तत्त्व तो पञ्चभूत ही हैं। बीजके संस्कार-विशेषसे पञ्चभूत सेव, केला, चीकू या गुलाब होता है, पर बीज तत्त्व नहीं है। पञ्चभूत तत्त्व है। तब सेव, केला, गुलाब, आदिमें तत्त्वतः भेद नहीं है। वस्तुतः पञ्चभूत भी तत्त्व नहीं हैं। जड़-तत्त्व होता है, चेतन-तत्त्व होता है और एक सर्वव्यापक तत्त्व होता है।

तच्च तच्च तच्च तानि तेषां भावस्तत्त्वम्।

जड़वर्ग, चेतनवर्ग और ईश्वर—ये हैं 'तत्'। इन तीनोंकी जो भावात्मक सत्ता सच्चिदानन्द है, वही तत्त्व है।

भगवान्के अवतार कोई साँवले, कोई गोरे, कोई लाल, कोई पीले हैं। रंग पृथक्-पृथक्, जाति भी अलग-अलग—कोई मछली, कोई कछुआ, कोई वराह, कोई सिंह, कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय ही; फिर भी जो सबमें एक चीज विद्यमान है, उसीको 'तत्त्व' कहते हैं। उस भगवत्तत्त्वका ज्ञान सिद्धोंमें भी किसी-किसीको होता है।

●

३. विज्ञान-निरूपण

संगति :

'मय्यासक्तमनाः' में भगवान्‌ने भक्ति और साधनकी विशेषता बतलायी। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्' में विज्ञानसहित ज्ञानकी ज्ञातव्यता बतलायी कि मेरी बात ठीक-ठीक जान जाओ तो सर्वज्ञ हो जाओगे, कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा। तीसरे श्लोकमें बतलाया कि यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है और संसारमें किसी-किसीको ही प्राप्त होता है।

अब विज्ञानसहित ज्ञान क्या है, इसका वर्णन प्रारम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें विज्ञानका निरूपण करते हैं। यह अपरा प्रकृति और परा प्रकृतिका वर्णन है। इसमें भी पहले विज्ञान अर्थात् प्रकृतिका वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

इस प्रकृति वर्णनसे क्या लाभ है? इसका क्या प्रयोजन है? संसारके सभी मनुष्य संसारकी वस्तुओंको 'मेरी-मेरी' कहते हैं: 'यही मेरी भूमि, यह मेरा भवन, यह मेरा उपवन, यह मेरा धन!' इसका पता वे नहीं लगाते कि 'ये सब मेरे हैं भी या नहीं?' इनको 'मेरा' मान लेते हैं। 'मेरा' मानकर इनके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। संसार जीवको नहीं बाँधता। जीव ही संसारकी वस्तुओंको 'मेरा' मानकर उनके साथ बँधा है। सोने-चाँदी, मकान-जमीनने कभी किसीसे नहीं कहा कि 'तुम मेरे हो।' जब कहा, तब मनुष्यने ही

इन्हें 'मेरा' कहा। 'मेरा' का पेट संसारसे भर लिया गया, तब संसार हमारे दिलमें बँध गया और हम संसारसे बँध गये।

अब अपरा प्रकृतिका वर्णन यह बतलाता है कि यह अपनी नहीं, भगवान्‌ की है। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो अपनी हो। यहाँकी सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। भगवान्‌ यही बतला रहे हैं।

विज्ञानसहित ज्ञानकी प्रणाली यह है कि 'एक मैं हूँ' यह अखण्ड सत्य है। इसे कोई काट नहीं सकता। कोई यह सम्भावना तो कर सकता है कि 'पहले मैं नहीं था और बादमें मैं नहीं रहूँगा'; किन्तु 'मैं हूँ या नहीं' यह सन्देह किसीको कभी नहीं हो सकता। कभी किसीको ऐसा नहीं लगता कि 'मैं नहीं हूँ।' 'मैं नहीं हूँ' यह निश्चय जिसे होगा, वह तो है ही। अब सोचना होगा कि 'मैं पहले था या नहीं? बादमें रहूँगा या नहीं?'

'मैं नहीं रहूँगा' यह अपने अभावकी स्थिति किसीके अनुभवमें कैसे आयेगी? 'पहले मैं नहीं था' यह निश्चय भी किसने किया? जिसने निश्चय किया वह वहाँ था, यह कैसे ज्ञात हुआ? इसलिए आत्माका अस्तित्व न होना किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता। यह पहले था, आगे रहेगा और अब है। यह 'अहं' अनादि, अनन्त और अविनाशी है।

इस 'अहं' के अतिरिक्त क्या है? पराप्रकृति जीव-प्रकृति, जो सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रही है। तीसरी वस्तु है, जड़-प्रकृति जो धारण की जा रही है। परमात्मा अद्वितीय है। चेतन प्रकृति एक है। जड़ प्रकृति एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें दीखती है:

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ रूपोंमें यह मेरी अपरा प्रकृति है। महाबाहु अर्जुन! दूसरी जीवरूपसे मेरी परा प्रकृतिको जानो, जिसने इस जगत्‌को धारण किया है।

तृतीय तत्त्व है जड़-प्रकृति। उसके आठ प्रकार हुए : भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पञ्चभूतात्मा, मन प्रज्ञानात्मा, बुद्धि विज्ञानात्मा और अहंकार सत्त्वात्मा।

प्रकृति क्षर है और पुरुष अक्षर। यहाँ 'भूमिरापोऽनलो वायुः' पर जोर नहीं है; ज्यादा जोर है 'मे' पर। तात्पर्य यह कि तुम इससे ममता छोड़ दो। ममता छोड़े बिना कोई अहंता छोड़ नहीं सकता। कई लोगोंको यह भ्रम रहता है कि पहले अहंता छूटेगी, फिर ममता छूटेगी। ममता अन्तःकरणकी एक वृत्ति है और अहंता भ्रान्ति है। अहंता भूल है और ममता अन्तःकरणमें वासनाओंके कारण चमकती है। भ्रम है अहंता और मलिनता है ममता। अतः मलिनताको मिटाये बिना कोई चाहे कि हम अहं-विषयक भ्रमको छोड़ देंगे तो यह सम्भव नहीं।

ममता छोटा दोष है, अहंता बड़ा दोष। जब मनुष्य छोटे दोष छोड़ देता है, तब बड़ा दोष छूटता है। पाँच पैसेकी चोरी छूट नहीं सकती तो पाँच हजार रुपयेकी चोरी कैसे छूटेगी?

'मेरा-मेरा' से भरकर जो मेरावाला बना है, उसीको 'अहं' कहते हैं। 'मेरा-मेरा' कुछ न रहे तो किसको लेकर 'अहं' बनेगा? अतः अहंका जो मिथ्या-पिशाच खड़ा हो गया है, वह 'मेरा-मेरा'

करनेसे ही बना है। इसलिए परमार्थके मार्गमें चलनेवालोंके लिए पहली बात है कि वे 'मेरापन' छोड़ें।

मेरेपनेको छोड़नेके दो उपाय हैं। एक तो कहते हैं: 'यह सब शून्यका विलास है अथवा चित्तका विलास है या यह अनादिसिद्ध। संसार इसी प्रकार चल रहा है। इसमें मेरा कुछ नहीं हैं।

बौद्ध, जैन, सांख्य कहते हैं कि 'संसारका प्रवाह अनादि है। इसमें मैं-मेरा करना भूल है।' बौद्ध एवं दृष्टिसृष्टिवादी कहते हैं: 'यह सब मनोविलास है। मायाका विलास है।' यदि यह चित्तका विलास है तो भी सब पदार्थ काल्पनिक हैं, यदि अनादि-प्रवाह है तो भी इसमें 'मेरापन' क्या है?'

दूसरा मार्ग भावको प्रधानतासे 'मेरापन' काटनेका है। भावकी प्रधानता क्या है? 'यह हाथ मेरा, पाँव मेरा, जीभ मेरी, मकान मेरा, पुस्तक मेरी' यह 'मेरा-मेरा' कहनेवाला कोई है, तो क्या यह जो सम्पूर्ण सृष्टि है, उसे 'मेरा' कहनेवाला स्वामी कोई नहीं है? अवश्य है। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं: 'सृष्टि मेरी है।' सृष्टि भगवान्‌की है तो उसमें कुछ भी 'मेरा' कहना भगवान्‌की वस्तुको अपना मानना है। हमारी ममता छुड़ानेके लिए ही भगवान्‌ने कहा: 'यह प्रकृति मेरी है।'

भूमिरापोऽनलो वायुः। 'भूमि'का अर्थ है गन्धतन्मात्रा, 'जल' यानी रस-तन्मात्रा, 'तेज' यानी रूप-तन्मात्रा, 'वायु' यानी स्पर्श-तन्मात्रा और 'आकाश' यानी शब्द-तन्मात्रा है। वेदान्तकी भाषामें ये अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत या भूतसूक्ष्म हैं। मन, बुद्धि और अहंकार भी कार्यके रूपमें नहीं, कारणके रूपमें—प्रकृतिके रूपमें ग्राह्य हैं। प्रकृतिके रूपमें जो क्षर-प्रकृति है, वही ग्राह्य है। यह सारा विस्तार भगवान्‌का, है, जिससे यह सृष्टि बनती है।

सृष्टिके स्वामी भगवान् सृष्टिको बनानेवाले भगवान् और सृष्टि बननेवाले मसालेके रूपमें भी भगवान् हैं।

आपन खेल आप करि देखै।
खेल संकोचै तब लानक एकै॥

वही परमप्रभु सर्वरूपमें प्रकट होता है।

अपरेयम्। 'इयं अपरा प्रकृतिः' यह जिसका वर्णन किया गया, जो आठ प्रकारकी होती है, वह अपरा-प्रकृति है।

इतस्तु अन्यां मम परां प्रकृतिं विद्धि। इस जड़-प्रकृतिसे पृथक् मेरी दूसरी प्रकृति अर्थात् चेतनात्मिका, क्षेत्रज्ञलक्षणा प्रकृति है, उसे समझो। अर्थात् हम जिसे 'मेरा-मेरा' कहते हैं, वह तो भगवान्का है ही; जिसे हम 'मैं' बोलते हैं, वह भी भगवान्का है।

परा-प्रकृति अर्थात् जीवभूता प्रकृति। शरीर सब अलग-अलग हैं। सबमें जीव है। एक ही चेतन जीव सब शरीरोंमें 'मैं-मैं' बोल रहा है—इस देह, अन्तःकरणकी उपाधिको लेकर अहंकारके साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं-मैं' बोल रहा है।

एक ही मिट्टी सबके शरीरमें है, पर हम सब एक शरीरको 'मैं' कहते हैं, सबके शरीरको 'मैं' नहीं कहते। सबके शरीरोंमें जो जल है, वह एक है। सबकी श्वासकी वायु एक है। देह हमारी अलग-अलग हैं, श्वास सबकी एक है। इसी प्रकार सबके भीतर जो आत्मा है, वह एक ही है। लेकिन उस आत्माको न जाननेके कारण हम एक-एक शरीरमें 'मैं' करके व्यवहार करते हैं।

जिस वस्तुको हम 'मैं' कहते हैं, वह जीव-प्रकृति, परा-प्रकृति है। अपरा प्रकृति आठ प्रकारकी हो गयी है, लेकिन इस परा-प्रकृतिमें

कोई प्रकार-भेद नहीं है। यह एक ही प्रकारकी है। यही इसका परापन है। पर अर्थात् श्रेष्ठ। इसका श्रेष्ठत्व यही है कि यह एकरूप है।

गन्धकी प्रधानतासे शरीरमें नाक, रसकी प्रधानतासे जीभ, रूपकी प्रधानतासे नेत्र, स्पर्शकी प्रधानतासे त्वचा, शब्दकी प्रधानतासे कान, मनकी प्रधानतासे हृदय और बुद्धिकी प्रधानतासे मस्तिष्क बन गया। अहंकारकी प्रधानतासे सारे शरीरमें व्यवस्था होने लगी। यह सारी बात समझनेकी है; क्योंकि हम दुनियाभरके विषयमें जानते हैं; किन्तु अपने बारेमें कुछ नहीं जानते।

जाग्रत्-अवस्था बुद्धिप्रधान है। इसमें हम जो काम करते हैं, वह अच्छा-बुरा, हित-अहित, प्रिय-अप्रिय समझकर करते हैं। जाग्रत्में निश्चयपूर्वक काम किया जाता है। अतः जाग्रत्की महारानी बुद्धि है।

स्वप्नावस्थामें निश्चयकर कुछ नहीं किया जाता। स्वप्नका क्या ठिकाना? कभी सदाचार तो कभी अनाचार चलता है। स्वप्न अच्छा भी आता है और बुरा भी। स्वप्न मनका खेल है। स्वप्नावस्थाका राजा मन है। मन नपुंसक है। उसका कोई शासन नहीं चलता। अतः स्वप्नमें चाहे जैसे संस्कार उदित हो जाते हैं।

सुषुप्ति-अवस्थामें मन, बुद्धि दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं; किन्तु शरीरमें सारी क्रिया चलती रहती है। सुषुप्तिका राजा अहंकार है। उस समय रक्त-संचालन पाचन, केशवृद्धि आदि सब कार्य होते रहते हैं। मच्छर काटे तो अनजानमें ही हाथ चला जाता है।

समाधिमें मन, बुद्धि, अहंकार तीनोंका निरोध हो जाता है। अतः न संकल्प उठते हैं, न निश्चय होता और न शरीरमें रुधिराभिसरण, पाचन, केशवर्धनादि क्रियाएँ ही होती हैं। जैसा शरीर

लेकर बैठो, समाधिसे उठनेपर वही दशा रहेगी। वहाँ वृत्ति नहीं, चित्त रहता है। 'वृत्ति' का अर्थ है व्यवहार, वहाँ व्यवहार नहीं, चित्त रहता है, यह ऐसे पता लगता है कि समाधिसे उठनेपर पहले-के सब संस्कार जाग जाते हैं, सब स्मृतियाँ लौट आती हैं।

अहंकार, मन, बुद्धि ये तीनों वृत्तियाँ हैं और चित्त द्रव्य है। जीवन्मुक्ति होनेपर भी चित्त बना रहता है और उसमें वृत्तियोंका उदय होता रहता है। किन्तु तब यह चित्त बाधित होता है, अर्थात् तब यह अनुभव हो जाता है कि अपने आत्मदेवसे पृथक् न चित्त है, न चित्तकी वृत्ति; न जाग्रत् है, न स्वप्न; न सुषुप्ति और न समाधि।

सबमें रहनेवाला जो एक चेतन है, उसे अवच्छेदवादकी दृष्टिसे 'कूटस्थ' कहते हैं, 'अवच्छिन्न चेतन'। आभासवादकी दृष्टिसे उसे 'आभास-चेतन' कहते हैं। एकजीववादी 'एक जीव' कहते हैं। यह भगवान्की परा-प्रकृति सर्वोत्कृष्ट स्वभाव है, क्योंकि इसमें ज्ञान, जीवन तथा आनन्द है।

बात केवल इतनी है कि यह परा-प्रकृति अपरा-प्रकृतिसे सम्बन्ध रखकर व्यवहार कर रही है। शुद्ध चेतनने अपरा प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखा है—दोनोंमें इतना ही अन्तर है। जीव-चैतन्य और परमात्म-चैतन्यका विश्लेषण ही यह है कि एक ही चेतन जब ब्रह्मरूपसे ज्ञात है, तब उसका नाम 'परमात्मा' है और जब वह ब्रह्मरूपसे ज्ञात नहीं, तब उसका नाम 'जीव' है। वस्तुतः एक ही ब्रह्मचैतन्य है। ज्ञानकी दृष्टिसे भगवान् श्रीकृष्ण जिसे 'अहं' कहते हैं, अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिसे उसीको वे 'परा प्रकृति' कहा जाता है।

महाबाहो। यह अर्जुनके लिए सम्बोधन है। महाबाहु वह

है जो एक स्थानपर रहे, पर उसकी क्रियाशक्ति सर्वत्र दूर-दूरतक काम करे।

एकबार श्रीसीताराम युगल-सरकार झूलेपर बैठे झूल रहे थे। श्रीहनुमान्‌जी झुला रहे थे। दोनोंने परस्पर कुछ संकेत किया। हनुमान्‌जी तो सीताराम नाम-जपमें मग्न थे।

सीताजीका संकेतमें कहना था: 'हनुमान्‌का मुझसे बहुत प्रेम है।'

श्रीरामने संकेत किया: 'मुझसे बहुत प्रेम है।'

दोनोंने संकेत किया: 'अच्छा, आज परीक्षा ले लो।'

सहसा श्रीरामने कहा: 'हनुमान! प्यास लगी है।'

झट सीताजी बोलीं: 'हनुमान्! बहुत गर्मी लगती है, पंखा झलो।'

श्रीराम: 'पहले जल ले आओ।'

सीताजी: 'पहले पंखा झलो।'

हनुमान्‌जीने सोचा—'ये दोनों काम करने हैं और झूला झुलाना भी रुकना नहीं चाहिए।' बस, शरीरसे धक्का देकर झूला झुलाते रहे। एक हाथ बढ़ाकर जलपात्र उठाया और दूसरा हाथ बढ़ाकर पंखा ले लिया। दोनोंकी सेवा पूरी कर दी! इस प्रकार हनुमान्‌जी 'महाबाहु हैं।'

भुजा क्रिया-शक्ति है। अर्जुनके हाथ घुटनेतक लम्बे हैं। एक स्थानपर रहकर भी वह कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंमें सर्वत्र सक्रिय रहता है। भगवान् कहते हैं: 'अर्जुन! जैसे तुम एक स्थान-पर रहकर भी दोनों दलोंको अपने प्रभावमें रखते हो, ऐसे ही यह

जीवभूता हमारी प्रकृति भी अकेली होकर पूरे जगत्का धारण करती है।'

ययेदं धार्यते जगत्। जगत्—जो हर समय चलता-बदलता रहे। 'गच्छतीति जगत्'—जो कभी स्थिर न रहे। इसमें गति ही गति है। आजतक कोई जगत्को पकड़कर नहीं रख सका। सप्तद्वीपवती पृथ्वीके अनेक चक्रवर्ती हुए, पर उत्थान-पतन चलता ही रहा। यहाँ जो धनी थे, वे निर्धन और जो निर्धन थे, वे धनी होते रहते हैं। अमर होनेकी धाकवाले मर गये।

'संसारः संसरणात्'—संसार सरकता रहता है। सड़कपर जैसे ताँगे, मोटरें, पैदल आते-जाते रहते हैं, वैसे ही संसारमें प्राणी आते-जाते रहते हैं।

एक महात्मासे किसीने पूछा : 'संसार किसे कहते हैं?'

महात्मा : 'संसार उसे कहते हैं, जिसे आजतक पकड़कर कोई रख नहीं सका। यह इतना चिकना है कि सरक जाता है। तुम उससे चाहे जितना प्रेम करो, वह सरक जायगा।'

पूछनेवालेने पूछा : 'परमात्मा किसे कहते हैं?'

महात्मा : 'जिसे कोई छोड़ न सके।'

श्रीवल्लभाचार्य महाराजने जगत् और संसार इन दोनों शब्दों-का अर्थ अलग-अलग माना है। यह बात सांख्य और अद्वैत वेदान्त भी मानता है। जगत्का अर्थ है, मिट्टी-पानी, आग-हवादि प्राकृतिक सृष्टि। संसारका अर्थ है, 'मेरा-तेरा।' यह 'मेरा-तेरा' ही दुःख देनेवाला है। ईश्वरकी प्राप्ति होनेपर 'मेरा-तेरा'रूप संसार छूट जाता है।

वेदान्ती जगत्को ईश्वर-सृष्टि कहते हैं और 'मेरा तेरा'रूप

संसारको जीवसृष्टि। जीवको ईश्वरने धारण कर रखा है। जगत्‌को भी ईश्वरने धारण कर रखा है। तब जगत्‌को जीवने धारण कर रखा है, यह क्यों कहते हैं?

जगत्‌को ईश्वर धारण करता है; किन्तु जीवोंके कर्मानुसार ही धारण करता है। 'ययेदं धार्यते जगत्' संसारमें जितनी जीव-प्रकृति है, वह एक-एक देहमें बैठकर अच्छे-बुरे कर्म करती है। बुरा काम अपनेको और दूसरोंको भी नीचे ले जाता है। अच्छा काम अपनेको और दूसरोंको भी ऊपर उठाता है। जिसके द्वारा अपनी और दूसरोंकी भी उन्नति हो, वह पुण्य और जिसके द्वारा अपनी और दूसरोंकी भी अवनति हो, वह पाप है।

'ययेदं धार्यते जगत्'—अपने स्वकर्म द्वारा जीव जगत्‌को धारण कर रहा है। अच्छे-अच्छे कर्म करके इसमें सुख और ज्ञान-की सृष्टि कर रहा है और बुरे काम करके दुःख तथा अज्ञान बढ़ा रहा है। ईश्वर तो सूर्यके समान प्रकाशक है।

४. ज्ञान-निरूपण

संगति :

यह सच है कि एक ही परमात्मा अज्ञानका आश्रय बनकर 'जीव' और अज्ञानका विषय बनकर 'जगत्' बन गया है। यही बात भगवान् आगे बतला रहे हैं कि मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है। मूलतत्त्वका निरूपण करनेके लिए वे कहते हैं कि 'परा एवं अपरा प्रकृति मुझसे ही प्रकट है, मुझमें ही स्थित है एवं मुझमें ही लीन होनेवाली है।'

भगवान् आगे कहनेवाले हैं :

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

इस मायाके पार कौन जाते हैं : 'कस्तरति मायाम्, कस्तरति मायाम् ?' उत्तर है : जो भगवान्‌की शरण जाते हैं। केवल मुँहसे कह देना कि 'प्रभो, मैं तुम्हारी शरण हूँ', भगवान्‌की शरण जाना नहीं है। प्रभुका माहात्म्य जानकर, उनकी शरण जाना ही वास्तविक शरणागति है। और—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

अर्थात् बहुत जन्मोंके बाद मनुष्यको कहीं भगवान्‌का ज्ञान होता है और जब ज्ञान होता है, तभी भगवान्‌की ठीक-ठीक प्रपत्ति हो पाती है। इसलिए भगवत्तत्त्वका ज्ञान होना भी आवश्यक है। पहचानोगे नहीं

तो सहारा किसका लोगे? विना पहचाने सहारा ले भी लिया तो सहारा लेनेका ग्रानन्द नहीं ग्रायेगा।

हम कहीं जंगलमें भटक गये हों ग्रौर बादशाहका सहारा मिल जाय, वह हाथ पकड़कर जंगलसे बाहर पहुँचा दे तो पहुँच गये; लेकिन जब भटकते समय वह मिला, तभी हम पहचान जायँ कि वह बादशाह है तो उसके मिलनेके समयसे ग्रन्ततक जो सुख-गौरव मिलेगा, वह विना पहचाने नहीं प्राप्त होगा। विना पहचाने साधनकालके ग्रानन्दमें बहुत ग्रन्तर पड़ेगा।

भगवान्‌ने कह रखा है: 'तुम मेरी ग्रोर ग्राग्रो। जब तुम सोचोगे कि संसार-नदीको पारकर मेरे पास ग्राना है, तब एक मल्लाह नाव लेकर तुम्हारे पास ग्रायेगा। तुम उस नावपर बैठ जाना। तुम्हें कुछ करना नहीं होगा। वही तुम्हें भव-नदीसे पार कर देगा।'

'वह मल्लाह कौन होगा?' भगवान्! 'तुम उसे पहचानो। भगवान्‌ने कह ही दिया है:

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

स्वयं भगवान् ही साधनकी नौका लेकर स्वयं नाव खेते हैं। इस प्रकार यह यात्रा पूरी करनी है।

तुम इस मृत्युरूप संसारमें डूब रहे हो तो भगवान् तुम्हारा हाथ पकड़कर उबारनेके लिए बिलकुल तैयार खड़ा है। ग्रतः भगवान्‌को पहचानना ग्रावश्यक है।

देखो कि इस संसारको बनानेवाला कौन है?

घटानां निर्मातुः त्रिभुवनविधातुश्च कलहः।

एकबार एक कुम्हार और ब्रह्माजीमें झगड़ा हो गया। कुम्हारने कहा : 'तुमने ब्रह्माण्ड बनाया और मैंने घड़ा। हमारी तुम्हारी जाति एक है। मैं भी प्रजापति हूँ।'

कुम्हारने घड़ा बनाया तो केवल घड़ेका आकार बनाया या मिट्टी भी बनायी? स्पष्ट है कि केवल घड़ा बनाया, मिट्टी नहीं। सुनारने आभूषण बनाया, पर सोना नहीं। फिर मिट्टी किसने बनायी? सोना किसने बनाया?

इस ब्रह्माण्ड-घटका विचार करो। इसे कुम्हारके समान ईश्वरने बनाया? जैसे घड़ा पञ्चभूतोंसे बना है, कुम्हारका शरीर भी तो पञ्चभूतोंसे ही बना है। वह भी तो एक घड़ा ही है। तब उसे बनानेवाला कौन है?

एक व्यक्तिके मनमें संकल्प आनेपर कि 'मैं घड़ा बनाऊँ' पञ्च-भूतों द्वारा घड़ा बनाया गया। इसी प्रकार तो यह ब्रह्माण्ड-घट बना है। इसे बनानेके लिए किस कुम्हारने संकल्प किया है? जब एक घड़ा बिना संकल्पके नहीं बनता, तो यह सारी सृष्टि बिना संकल्पके कैसे बनेगी? जगत्के सम्बन्धमें श्रुति और सब वेदान्त-सम्प्रदाय एक-मत हैं कि सृष्टि ईश्वरने बनायी और वही स्वयं सृष्टि बना है। यही बात भगवान् अब कहने जा रहे हैं:

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

यह समझो कि यही (परा प्रकृति और अपरा प्रकृति) सब भूतोंके कारण हैं। मैं ही सम्पूर्ण जगत्का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हूँ।

एतद्योनीनि भूतानि। जितने पैदा होनेवाले पदार्थ हैं, पहले पैदा हुए, हो रहे हैं या आगे पैदा होंगे, सभी भूत है: 'सर्वाणि भूतानि = भवनधर्मकाणि।'

'मैं-मेरा' भूत है। 'मैं-मेरा' को छोड़कर जो तथ्य है, वह परमात्मा है। जो हो नहीं, पर दीखे और डराये बहुत, उसे 'भूत' कहते हैं। चींटीसे लेकर ब्रह्मातकके सब शरीर भूत हैं। मिट्टीसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त सब कार्य-जगत् भूत है। यह परमात्मामें भूत है; अर्थात् है नहीं, केवल दीखता है।

पशु, पक्षी, मनुष्य सभी 'एतद्योनीनि'—परा-प्रकृति और अपरा-प्रकृतिके कार्य हैं। एक ही चेतन परमात्मा अज्ञानका आश्रय और विषय होकर इन सारे रूपोंमें प्रकट हो रहा है।

इसी जीवको, जिसे यहाँ 'परा-प्रकृति' कहा गया है, 'हिरण्य-गर्भ' कहते हैं। इसीको आभास, भोक्ता, द्रष्टा कहते हैं। इसीलिए अभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि 'अपरा-प्रकृतिकी दृष्टिसे भी अद्वैत है और परा-प्रकृतिकी दृष्टिसे भी अद्वैत है; क्योंकि प्रकृति ही प्रकृति है।'

सब होनेवाले 'सर्वाणि भूतानि' इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे हुए हैं: ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह परा, और अपरा दोनों प्रकृतियाँ जिसमें लीन हो जाती हैं और जिसमें उदित होती हैं, वह ब्रह्म मैं हूँ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। परा और अपरा प्रकृति भी मेरी हैं, मुझसे निकलती हैं। ये मेरे ही सम्पूर्ण स्वरूपमें कल्पित हैं, मुझसे भिन्न नहीं। अतः परा और अपरा-सहित सम्पूर्ण जगत्का प्रभव एवं प्रलय मैं ही हूँ। 'प्रभव'का अर्थ

है कारण। 'प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः'–जिससे सब पैदा हों, उसका नाम 'प्रभव' है और 'प्रलीयते अस्मिन्निति प्रलयः'—जिसमें सब लीन हो जायँ, उसका नाम 'प्रलय' है। जैसे घड़ा मिट्टीसे उत्पन्न हुआ और फूटकर मिट्टीमें मिल गया। घड़ा बना था, तब भी केवल आकार था–थी मिट्टी ही। व्यवहारकी दृष्टिसे घड़ेका आकार सच्चा है। उसमें पानी भरा जा सकता है, किन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे घड़ा मिथ्या है। ऐसे ही यह सृष्टि जो दीख रही है, तत्त्वकी दृष्टिसे परमात्मा है और व्यवहारके लिए इसमें नानात्व है।

'कृत्स्नस्य जगतः' का अर्थ है सम्पूर्ण जगत्का, प्रभव-प्रलय भगवान् ही हैं। अतः सबकी सत्ता भगवान्की सत्ता और सबका ज्ञान भगवान्का ज्ञान है। इसलिए कहीं राग-द्वेष करने योग्य नहीं। राग-द्वेषरहित होकर सबका भगवद्रूपसे अनुभव करो।

मोकलपुरके बाबा कहते थे : 'घाससे मास और माससे घास बनता है।'

जौ, गेहूँ, मटर, चना, फल, शाकादि सब घास हैं। इन्हींको खाकर प्राणियोके शरीरमें मास बनता है। मास जब अन्तमें मिट्टीमें मिलता है—मल-मूत्र, मरे प्राणियोंके अवशेष मिट्टीमें मिलते हैं तो उससे घास, वनस्पति पैदा होते हैं।

सृष्टिका क्रम यही चल रहा है कि चलते-फिरते शरीर जब मरते हैं, तो उनकी जड़ता पञ्चभूतोंमें मिल जाती है। जो प्राणी आज अपनेको 'चेतन' कहता है, उसे यदि जौ-गेहूँ, चना-मटर आदि पञ्चभूतोंसे बनी जड़ वस्तुओंका आहार न मिले तो उसकी बुद्धि एवं चेतना व्यर्थ हो जाय। संसारमें जो कुछ हो रहा है, जड़-चेतनके मेलसे ही। इसीको 'चिदचिद्ग्रन्थि' कहते हैं :

जड़-चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

जड़-शरीर ऐसा लगता है, जैसे चेतन हो। चेतन ऐसा लगता है, जैसे शरीर हो। वस्तुतः शरीर चेतन नहीं है और न चेतन ही शरीर है। लेकिन मूलभूत तत्त्वके अविवेकके कारण दोनोंकी ऐसी गाँठ पड़ गयी है कि इन्हीं दोनोंके संयोगसे संसारमें सब कुछ होता दीख रहा है।

उपधारय। ऐसा निश्चय करो। 'उपस्थितः सन् धारय'—इनके सर्वथा पास रहकर भी इनसे अपनेको पृथक् कर लो। तुम न विकारी जड़-प्रकृति हो, न कर्ता-भोक्ता चेतन। तुम दोनोंसे विलक्षण हो।

संसारमें जहाँ चेतन जड़से अपनेको एक करके काम करता है, वहाँ 'कृति' होती है। जहाँ चेतन जड़से अपनेको मिलाता नहीं, वहाँ 'विकृति' होती है। संसारकी वस्तुओंका बदलना-सड़ना विकृति है। बच्चेका शरीर युवा-वृद्ध होना, छोटे फलका बढ़ना-पकना, काले केशका सफेद होना आदि विकृति हैं। चेतन जीव इनका कर्ता नहीं होता। प्रकृतिमें ये विकृतियाँ स्वयं होती हैं।

जब जीवात्मा कर्ता बनकर बैठता है, तब अच्छे-बुरे काम होते हैं। अच्छे कामका फल सुख, बुरे कामका परिणाम दुःख है। यदि जीवात्मा कर्ता बनकर न बैठे, प्रकृतिमें जो कर्म स्वयं हो रहा है, केवल वही हो, तो प्रकृतिमें विकार तो होगा; पर उससे जीवको पाप-पुण्य नहीं लगेगा।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वका सम्बन्ध ही पाप-पुण्यका स्रष्टा है। इस प्रकार परा-प्रकृति जीव शरीरमें बैठकर अपरा-प्रकृतिके कार्य

शरीरके साथ तादात्म्यपन्न होकर पाप और पुण्य करता है तथा पाप-पुण्य द्वारा इस सृष्टिको बनाता-बिगाड़ता रहता है। नाना शरीर धारण करता रहता है। सब शरीर कर्मोंके फलस्वरूप होते हैं। उत्तम कर्मोंसे उत्तम शरीर, अधम कर्मोंसे अधम शरीर। इस प्रकार परा एवं अपरा प्रकृतिके संयोगसे जगत्के सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती रहती है।

भगवान् कहते हैं : जगत्में जो जीव-प्रकृति और जड़-प्रकृति क्रियाशील हैं, उन दोनोंका उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थान मैं ही हूँ। उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थानका पता लगानेपर निमित्त-कारण और उपादानकारणका ठीक-ठीक पता लग जाता है। वस्तुको बनानेवाला निमित्तकारण कौन है और किस चीजसे, उपादानकारणसे वस्तु बनी है? घड़ेको बनानेवाला कुम्हार निमित्तकारण है। घड़ा मिट्टीरूप उपादानसे बनता है। घड़ा बनानेके लिए मिट्टी, चाक, सूत, डंडा थापी भी चाहिए और बनानेकी क्रिया भी करनी चाहिए। ये चाक, सूत, डंडा, थापी सहकारी-कारण हैं।

अब यह जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड घटोंका निर्माण होता है, उनका उपादानकारण कौन है? निमित्तकारण कुम्हार कौन है? सहकारी कारण क्या हैं?

इस विषयमें सब स्मार्तमत, सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव और सभी वैष्णव, सब उपासक सम्प्रदाय मानते हैं कि ईश्वर ही सृष्टिका अभिन्न-निमित्तोपादन कारण हैं। चित्-प्रकृति और अचित्-प्रकृति ये दो प्रकारके ईश्वरके विशेषण हैं। ईश्वर ही बनाता है और ईश्वर स्वयं ही बनता है। मिट्टी भी वही और कुम्हार भी वही।

कुम्हार घड़ा बनाता है और बेच देता है। घड़ा खरीदनेवाले, काममें लेनेवालेको पता भी नहीं कि इसे बनानेवाला कुम्हार कौन है। किन्तु बनानेवाला ही यदि घड़ेमें मिट्टी भी हो तो घड़ेके साथ वह भी प्रत्येक घरमें पहुँच गया। सृष्टि-घटमें ईश्वर उपादान-रूपमें भरपूर है।

श्री मध्वाचार्यके द्वैत-सम्प्रदायमें भी ईश्वरको जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ही माना जाता है। वे जीव, ईश्वरका भेद तो मानते हैं; ईश्वर और जगत्के भेदको वे भी नित्य नहीं मानते। श्री निम्बार्काचार्यके स्वाभाविक द्वैताद्वैतमें, श्री भास्कराचार्यके औपाधिक द्वैताद्वैतमें, गौड़ेश्वर-सम्प्रदायके अचिन्त्य द्वैताद्वैतमें—इन सबके मतमें जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर ही माना जाता है। श्री रामानुजाचार्य, श्री रामानन्दाचार्य, श्री विष्णु-स्वामी, आदि सभी वैष्णव-सम्प्रदायोंका इस विषयमें यही मत है। लेकिन :

उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना।

उपासनाकी सफलताके लिए स्थान-स्थानपर उस ईश्वरके श्रीविग्रह स्थापित होते हैं।

चार्वाक-दर्शनके पास तो ईश्वरकी चर्चा ही नहीं है। वे तो परलोक-पुनर्जन्म ही नहीं मानते। जैन जीव-द्रव्य, अजीव-द्रव्य दोनों मानते हैं। मानते हैं कि इन्हीं दोनों द्रव्योंसे नित्य सृष्टि चलती रहती है। अष्टादश-दूषणरहित व्यक्ति महापुरुष हो जाता है। उसकी देश-प्रधान ऊर्ध्वगति हो जाती है। वे सिद्धशिलापर रहते हैं।

बौद्ध सबका उपादान तो एक मानते हैं: किन्तु वे काल-

प्रधान हैं। शून्यको ही जगत्का उपादान मानते हैं। उनके यहाँ भी ईश्वरकी मान्यता नहीं। चार्वाक, बौद्धदर्शनके चार भेद और जैन—ये छह दर्शन वस्तुतत्त्वकी दृष्टिसे ईश्वरको स्वीकार नहीं करते। लेकिन जैन तीर्थंङ्करोंको और बौद्ध बुद्धको उपास्य स्वीकार करते हैं।

आस्तिक-दर्शनोंमें नैयायिक ईश्वरको कर्ता मानते हैं। वैशेषिकोंने तटस्थ ईश्वरकी स्थापना की। योग और सांख्यने आत्माका पृथक् एवं विभुरूपसे वर्णन किया है। पूर्वमीमांसकोंने बताया कि कर्मके कारण ही सृष्टि भिन्न-भिन्न हो रही है। वेदान्त-दर्शनके सभी सम्प्रदाय यह मानकर ही चलते हैं कि ईश्वर ही जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

अहं कृत्स्नस्य जगतः यहाँ 'अहं' कौन है ?

भक्तोंको प्रिय है कि उसीको 'अहं' कहा जाय, जो बोल रहा है। मैंने देखा कि वृन्दावनमें उड़ियाबाबाजी महाराज वेदान्तका सत्संग कराते समय बोलते थे : 'मेरे स्वरूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका—ब्रह्मासे चींटीपर्यन्तका उदय-विलय हो रहा है।' तब एक बहनजी भी बैठी रहती थीं। वे कहतीं : 'देखो, यह कह रहे हैं कि मैं ही ईश्वर हूँ। यह ईश्वर तो तुम्हारे सामने बैठा है। इन्हींकी पूजा करो।' लेकिन बोलते समय वे किस वस्तुको ध्यानमें रखकर 'मैं' शब्दका प्रयोग करते थे, इसे तो विवेकवान् वेदान्ती ही ग्रहण कर पाते थे।

हमने ऐसे ही तिरुवण्णमलैमें देखा कि श्री रमण महर्षि' 'कोऽहम्'का अनुसन्धान कराते हुए 'अहं'के स्वरूपका निरूपण करते थे। बड़े अच्छे ढंगसे बोलकर समझाते थे। (सदा मौन ही नहीं रहते थे।) उनकी 'सत्-चालीसा' में यह शैली है। उनके यहाँ दो

दल थे। एक उनके कथनानुसार पदार्थका अनुसन्धान करता था। एक दल कहता था: 'रमण भगवान् ही साक्षात् भगवान् हैं।' ये दो पक्ष हो गये; क्योंकि जिस तत्त्वका वे निरूपण करते थे, उसे ग्रहण करनेवाले लोग अपनेमें उस वस्तुका अनुसन्धान करते थे; पर जो उसे ग्रहण नहीं कर पाते थे, वे महर्षि रमणको ही भगवान् मानते थे। ये ही ज्ञानपार्टी और ध्यानपार्टी—दो पार्टियाँ हो गयीं। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उनका निरूपण हो गया और ध्यानके लिए रमण भगवान् हो गये। ऐसे ही परम्पराएँ चलती हैं।

'अहं कृत्स्नस्य जगतः' इसमें भगवान् श्रीकृष्ण जब 'अहं' कहते हैं, तब उसका क्या अर्थ लिया जाय—मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, नन्दनन्दन वृन्दावनवाले या रुक्मिणीवल्लभ द्वारिकाधीश, चक्र-गदाधारी अथवा पार्थ-सारथि, तोत्रवेत्रैकपाणि, ज्ञानमुद्रावाले श्रीकृष्ण?

यह भी अर्थ है; क्योंकि भगवान्‌के शरीरके प्रत्येक रोमकूपमें अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड बनते-बिगते रहते हैं:

यस्य रोमकूपेषु अनन्तानि ब्रह्माण्डानि प्रज्वलन्ति।

—महानारायणोपनिषद्

अर्जुनको जब भगवान्‌ने दिव्यदृष्टि दी तो उसने देखा कि भगवान् श्रीकृष्णके शरीरमें ही यह 'प्रभवः प्रलयस्तथा'—कितने ब्रह्माण्ड निकल रहे हैं और कितने लीन हो रहे हैं! वे ही अर्जुनके रथपर बैठे हैं। रथ टूटता नहीं, घोड़े मरते नहीं—ऐसे दिव्यरथपर बैठे श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्रभव-प्रलय हैं।

इस प्रकार भी सोच सकते हैं कि श्रीकृष्ण अपनेको विराट्-रूपमें अनुभव कर रहे हों और उस विराट्‌को ही 'अहं' कह रहे

हों। भगवान् अपनेको सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ अथवा ईश्वर रूपमें अनुभव कर 'अहं' बोल रहे हों।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

सबके आदिकारण और प्रवर्तक भगवान् हैं :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

'यह संसार कपड़ा है और उसमें मैं सूत हूँ।' कपड़ा फटे तो सूत भी फट जाय! ऐसा नहीं है। मेरी मूर्ति व्यक्त नहीं, अव्यक्त है। अव्यक्तरूप होकर मैं सबमें भरपूर हूँ।'

भगवान् श्रीकृष्णके गीतामें अनेक रूप हैं : आचार्यरूप, दिव्यरूप, सारथिरूप, विराट्रूप, निराकाररूप जिसे ध्यानमें रखकर 'अव्यक्तमर्तिना' कहते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

जो सम्पूर्ण सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, उस अपने स्वरूपको दृष्टिमें रखकर भगवान् कहते हैं : 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।'

कृत्स्नस्य जगतः। चर-अचर समस्त जगत् आकार-विकार-प्रकार-संस्कार जितने हैं, जो आधि-व्याधि-समाधि-उपाधि हैं,

सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें जो कुछ है, उसका प्रभव या उत्पत्तिस्थान और प्रलयस्थान मैं हूँ। तत्त्वरूपसे मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

'अहं कृत्स्नस्य जगत : पहले स्थूल अपरा प्रकृति, सूक्ष्म परा प्रकृति और अब यह 'प्रभवः प्रलयस्तथा'।

माण्डूक्योपनिषत्‌का वर्णन है : जाग्रत्-स्थान सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख अपरा प्रकृति है। स्वप्न-स्थान सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख परा प्रकृति है और कारण है :

स एष सर्वेश्वरः। एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

यही 'प्रभवः प्रलयस्तथा' है। वे ही शब्द हैं।

भगवान् कहते हैं : 'भक्तिका आधार यही है। विद्वान् लोग मेरा भजन करते हैं तो मुझे क्या जानकर भजन करते हैं? अहं सर्वस्य इत्यादि।

समझदारका लक्षण है कि वह भगवान्‌का भजन करे। दीपक अग्निसे सम्बन्ध न रखे, नेत्र सूर्यसे सम्बन्ध न रखे तो क्या जीवित रहेगा? जैसे पाञ्चभौतिक शरीरको पञ्चभूतोंकी जरूरत है, वैसे ही जीवको ईश्वरके भजनकी। यदि वह भजन न करे तो मृत हो गया। जहाँ नदीका अपने उद्‌गमसे सम्बन्ध टूट गया, वहाँ नदी मर गयी। हमारे उद्‌गम 'प्रभवः' भगवान् हैं और जाकर हम उन्हीं 'प्रलयः' में मिलेंगे। स्त्रीका सम्बन्ध यदि पिता और पति दोनों घरोंसे छूट गया तो वह कहाँकी रही? जीवात्मा काः सम्बन्ध ईश्वरसे न रहना ऐसा ही है।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यजानन्ति स्थानाद्‌भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

—भागवत ११. ५. ३।

अपने उद्गम एवं साक्षात् स्वामी भगवान्का जो भजन नहीं करते, उनकी अवहेलना करते हैं, उनके लिए संसारमें कोई ठौर-ठिकाना नहीं। वे जहाँ हैं, वहाँसे नीचे गिरते हैं। अतएव बुद्धिमान् पुरुष भावपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं ●

५. कार्य-कारण-भेद नहीं है

संगति :

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' इस बातको बिल्कुल स्पष्ट करनेके लिए भगवान् तीन रीतियोंसे वर्णन करते हुए अगले श्लोकोंमें पन्द्रह दृष्टान्त देते हैं।

मेरे एक मित्र कहते थे : यह दृष्टान्त पञ्चदशी-दृष्टान्त पूर्णिमा है।'

कोई दृष्टान्त देता है तो एक, दो या तीनतक देता है; किन्तु ये भगवान् पार्थ-सारथि अपने मित्रके प्रति वात्सल्यस्नेहसे इतने द्रवित हो गये कि दृष्टान्तपर दृष्टान्त देते चले गये।

भगवान् जब सम्पूर्ण जगत्के कारण हुए, तब कार्य भी होने चाहिए। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं : 'कार्य-कारणका भेद वास्तविक नहीं है।' वे अभिन्न निमित्तोपादानकारण तो हैं; किन्तु अविकृत परिणामी या परिणामी निमित्तोपादानकारण नहीं है। विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। ये तत्तद्रूपमें नहीं होते, तत्तद्रूपमें भासते हैं; क्योंकि वस्तुतः उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने समग्र रूपका वर्णन करते हैं। उन्होंने कहा है : **समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**। 'समग्र मुक्तको

जानोगे और मुझे समग्र, सम्पूर्ण रूपसे जानोगे।' ज्ञानकी समग्रता अथवा ज्ञेयकी समग्रता !

समग्रके इस ज्ञानके लिए अपरा-प्रकृतिविशिष्ट-विराट्, परा-प्रकृतिविशिष्ट हिरण्यगर्भ और 'प्रभवः प्रलयस्तथा' से कारण-प्रकृति-विशिष्ट ईश्वरका वर्णन करके अब मत्तः परतरं नान्यत् से अद्वय-तुरीय चैतन्यका निरूपण करते हैं।

इस तुरीय ब्रह्मका ज्ञान होनेपर तुरीय ब्रह्ममें व्यक्त प्रपञ्चके मिथ्या होनेका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार माण्डूक्यादि-औपनिषद-प्रक्रियाके साथ एकता कर दी।

इस संसारको और इसके बनानेवालेको एवं यह किस वस्तुसे बना है, इसे जाननेसे क्या लाभ है? इसका लाभ है राग-द्वेषकी निवृत्ति। यदि सचमुच यह ज्ञान हो जाय कि ये जो आकृतियाँ, पदार्थ दीख रहे हैं, वे आकार ही पृथक्-पृथक् हैं, इनमें मसाला एक ही है, इसे बनानेवाला और इस रूपमें बननेवाला भिन्न-भिन्न नहीं है, तो वह राग-द्वेषको मिटाने और हृदयको शुद्ध करनेके लिए सर्वोत्तम ज्ञान है। संसारके सब दुःख परमात्माके अज्ञानसे ही होते हैं।

विचार उसके सम्बन्धमें किया जाता है, जिसके सम्बन्धमें सन्देह हो और जिस विचारसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती हो। जगत्-कारणके सम्बन्धमें सन्देह है और उससे प्रयोजनकी सिद्धि होती है।

अधिकांश लोग इसपर विचार ही नहीं करना चाहते। उन्हें तो रुचि ही नहीं होती है, जहाँ पैसा मिलता हो या कोई स्वार्थ सिद्ध होता हो। परमार्थका विचार करनेसे क्या मिलेगा? तब संसारमें ही रचे-पचे रहो। इसीमें दुःख भोगते रहो।

कुछ लोग कहते हैं: 'बुद्धि जब वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती तो विचार करनेसे क्या लाभ?'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अर्थात् वाणी वहाँतक पहुँच नहीं पाती, अतः जप मत करो। बुद्धि नहीं पहुँच पाती, अतः विचार ही मत करो। मन नहीं पहुँच सकता, अतः ध्यान मत करो।' तब संसारमें ही लगे रहो।

कहनेका अभिप्राय यह कि इस प्रकार मत सोचो। अपने पास जो शक्ति और साधन हैं, उन्हें ईश्वरकी सेवामें लगाओ। हाथसे माला फेरो। जीभसे नाम लो। मनसे भक्ति करो। बुद्धिसे उसके विषयमें विचार भी करो।

जब विचार करने लगते हैं तो जड़वाद, परमाणुवाद, प्रकृतिवाद, शून्यवाद आदि मत आते हैं। अन्तमें निष्कर्ष निकलता है परमात्मा वस्तुतः जगत्के रूपमें बननेवाला और जगत्को प्रकाशित करनेवाली चित्ताका जो समग्ररूप है, सच्चिदानन्दघन वही जगत्का मूल कारण है। उसके सम्बन्धमें युक्तियाँ, तर्क, प्रमाण बहुत हैं।

नेत्रादि इन्द्रियोंसे संसार-कारणका प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, इसमें काम नहीं करतीं। नियम यह है कि जो वस्तु जिससे बनती है और जिससे प्रकाशित होती है, उससे भिन्न नहीं होती। अतः कारण-कार्यका विचार करने जाओगे तो अन्तमें यही मिलेगा कि सृष्टि परमात्मासे पृथक् नहीं है।

जितने विषय मालूम पड़ते हैं, वे इन्द्रियोंसे, इन्द्रियाँ मनसे, इस प्रकार प्रकाशकका विचार करते जाओ, दीख पड़ेगा कि तो सम्पूर्ण दृश्य और मैं द्रष्टा हूँ। द्रष्टाके बिना दृष्यकी सिद्धि नहीं होती। अतः द्रष्टा ही अपनेको दृश्यके रूपमें देख रहा है। द्रष्टासे भिन्न सृष्टि नहीं है और चेतन द्रष्टा परिणामी नहीं हो सकता, अतः सृष्टि केवल प्रतीतिमात्र है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

—ब्रह्मसूत्र

यह कारणत्वका वर्णन उसकी अद्वितीयताके प्रतिपादनके लिए है। प्रवर्तन, परिवर्तन और संवर्तन (प्रलय) ये तीनों सृष्टिमें होते रहते हैं। तीनों ही निवर्तन हैं, अर्थात् परमात्माके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे दृष्टान्तों द्वारा भगवान् सिद्ध करते हैं:

देखो कि दृष्टिका क्या स्वरूप है?

'अनिरुक्ते अनात्म्ये अनिलयने' आदि जो परमात्माका स्वरूप वृहदारण्यकोपनिषत्में बताया गया है, उसीको अगले श्लोकमें बतलाने जा रहे हैं।

जहाँ कारणकी उपाधि लगी है, वहीं उत्पत्ति-प्रलय होते हैं। जहाँ कारण उपाधि नहीं, वहाँ न उत्पत्ति है और न प्रलय।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥

—माण्डूक्य-कारिका

यही परमात्माका परमार्थ स्वरूप है। इसे 'तुरीय' कहते हैं। यह तुरीय और ब्रह्मकी एकता है। यहाँ द्वैतका लेश भी नहीं है। इस तुरीय ब्रह्मका अनुभव ऐकात्म्यबोधसे ही होता है; क्योंकि वह अद्वितीय है।

जब दूसरा कोई है ही नहीं, तो अबतक किया गया प्रभव-प्रलयका वर्णन क्या है? तुम्हें भिन्न-भिन्न वस्तुएँ—अन्तःकरण, देह दीखती हैं, ये सब एकसे ही प्रकट हुई हैं। यदि यह बात न कही जाय तो तुम इस

दृश्यको या तो प्रकृतिसे बना मानोगे या परमाणु अथवा शून्यसे बना मान लोगे। तब तत्त्वका बोध नहीं होगा, यही कारणके प्रतिपादनका तात्पर्य है, कारणत्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है। इसका यही तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है। यह कहकर अब कारणत्वका भी निषेध करते हैं :

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

धनञ्जय ! मुझसे परतर कुछ भी नहीं है। सूतमें मणियोंकी भाँति यह सब मुझसे व्याप्त है।

धनञ्जय। अग्निका भी एक नाम धनञ्जय है और यही प्राणका भी एक नाम है। धनञ्जय प्राण शरीरमें नख से शिखा-तक व्याप्त रहता है।

मृतमपि न जहाति धनञ्जयः।

यह प्राण मुर्देको भी नहीं छोड़ता। इसीसे शरीर बँधा रहता है। मुर्देको जीव छोड़ देता है; पर भगवान् नहीं छोड़ता। मुर्देको छोड़कर इन्हीं हाथोंसे, सूर्य नेत्रसे, चन्द्रमा मनसे, ब्रह्मा अन्तः-करणसे भाग जाते हैं, पर ईश्वर नहीं भागता। धनञ्जय ईश्वरका साथी है। भगवान्ने सम्बोधन किया धनञ्जय ! जो सबको भस्म करनेमें समर्थ है, वह अग्नि द्वैतको भस्म कर दे, इसमें क्या आश्चर्य !

'धनं जयति'—धनञ्जय वह जो धनको जीतकर ले आये। युधिष्ठिरके राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञोंमें दिग्विजयके समय अर्जुन धन जीतकर लाये हैं। अब भगवान् कहते हैं : 'तुम धनञ्जय

हो, ज्ञानरूपी धन प्राप्त करो। तुम अर्जन करनेवाले अर्जुन हो! मैं ज्ञानधन दे रहा हूँ, ज्ञानार्जन करो!

कुछ लोग धनके द्वारा जीते जाते हैं, वे धनके सेवक हैं। दूसरे धनको जीतते हैं, वे धनके स्वामी हैं। धनञ्जय वह, जो धनका स्वामी हो। जो धनको दे सकता है, भोग सकता है। जो खर्च नहीं कर सकते, वे धनी हैं तो धनके सेवक हैं, रक्षक हैं। धन वह है जिससे लोगोंका भरण-पोषण होता है। उसपर भी जिसने विजय प्राप्त कर ली अर्थात् अपने भरण-पोषणके लिए भी जिसे धन नहीं चाहिए, वह धनञ्जय है।

यहाँ 'धन' शब्दका अर्थ साधन है। अर्जुनके भीतर साधन-सम्पत्ति है।

मत्तः परतरं नान्यत्। 'परतरं परोक्षं श्रेष्ठं अन्यत् समवर्ति किञ्चित् अपरवर्ति।' अर्थात् मुझसे परे कुछ नहीं है।

परे न हो तो बराबरका होगा? नहीं: 'नान्यत्'—बराबर भी दूसरा कोई नहीं है?

तब आपसे छोटा तो होगा। 'किञ्चित्'—छोटा भी कुछ नहीं है। मैं ही मैं हूँ, कार्य भी मैं हूँ, कारण भी मैं हूँ, जीव-जगत् भी मैं हूँ। मेरे सिवा दूसरी वस्तु नहीं है।

'मत्तः परतरं नान्यत्'—मुझसे बड़ा सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्व-नियन्ता, श्रेष्ठ कोई नहीं है। श्रेष्ठताकी अवधि मैं ही हूँ।

प्रश्न इसलिए उठा कि अपरा-प्रकृति से श्रेष्ठ परा-प्रकृति है। उससे श्रेष्ठ है 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'। तब क्या उससे भी कोई श्रेष्ठ है? कोई परात्पर है?

भगवान्‌ने कहा: 'मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है।'

श्रुतिमें परात्पर शब्दका प्रयोग मिलता है :

अक्षरात्परतः परः। अक्षर सबसे परे है और उससे परे परमात्मा परात्पर है।

जो सबसे बड़ा ढूँढ़ने जाते हैं, उन्हें अनवस्था ही मिलती है। सबसे उत्तम समय कौन? सबसे श्रेष्ठ स्थान कौन? सर्वश्रेष्ठ वस्तु कौन-सी, इस निर्णयमें विवाद ही बढ़ता है। कार्तिक श्रेष्ठ या मार्गशीर्ष अथवा वैशाख? बम्बई श्रेष्ठ या वृन्दावन या अयोध्या अथवा वाराणसी? स्थानविशेष, कालविशेष, वस्तुविशेष, व्यक्ति-विशेषके बड़प्पनको कोई ढूँढ़ने निकले तो हजार जन्मोंमें भी निर्णय नहीं होगा। अतः यही समय, यही स्थान जहाँ हम हैं और जिसमें हमारी वृत्तियाँ उठ रही हैं, इसीमें सबसे बड़ा बैठा है।

'अन्यत्' : परमात्माके समान, समकालीन, भाई भी कोई नहीं है।

'किञ्चित्' : बादमें, छोटा-बेटा भी कोई नहीं है।

परमात्माका न कोई स्वामी है, न पिता। माया, अविद्या आदि कोई समसत्ताक भाई या मित्र हो, वह भी नहीं है। माया आदि अबाधित हों, तब न परमात्माके समसत्ताक हों। 'अन्यत् किञ्चिन्नास्ति'—दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

तब यह जो संसार दीख रहा है, वह क्या है?

मयि सर्वमिदं प्रोतम्। मैं पहले-पहल सन् '५६ में अहमदा-बाद गया तो साबरमती-आश्रम देखने गया। वहांके कार्यकर्ताने दूसरी वस्तुएँ दिखलाते हुए जापानसे आया हाथका बुना एक वस्त्र दिखलाया। उस सफेद वस्त्रकी बुनावट ऐसी थी कि सूतोंके द्वारा ही हाथमें लाठी लिये चलते हुए गान्धीजी दिखाई पड़ते थे।

उस वस्त्रमें डंडा, हाथ-पैर, सिर आदि तो है नहीं, केवल सूतोंका विशेष-विन्यास है, पर उस विन्यासके कारण उसमें गान्धीजीका शरीर, सब अंग, डंडा, चश्मा, चप्पल आदि प्रतीत होता था।

'प्रोतम्' : यह प्रोत-शब्द ताना-बानाके अर्थमें श्रुतिमें प्रयुक्त है :

आकाशः खलु कस्मिन् ओतश्च प्रोतश्च।

आकाश किसमें ओत-प्रोत है? अर्थात् ताना-बाना क्या है?

कबीर साहबने पूछा : 'काहेका ताना काहेका बाना?'

यह संसाररूपी पट है। यह पट कपट है, माया है। है तो सूत, पर सूतसे न्यारा अपना महत्त्व बना बैठा है, यही कपट है। यह जगत्‌रूप पट परमात्मरूप सूतसे ओत-प्रोत है।

'मत्तः परतरं नान्यत्' : यह कितनी प्रसन्नताकी बात है कि जीव जिसकी प्राप्तिके लिए व्याकुल हो युग-युगसे, जन्म-जन्मसे संसारमें भटक रहा है। वह जीवका वस्तुतः परमार्थस्वरूप है। अज्ञानवश उसे न पहचान जीव भटक रहा है।

महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज धर्मशास्त्र, दर्शन, तन्त्रके सर्वमान्य विद्वान् हैं। उनकी पुस्तक 'विशुद्धानन्द-प्रसंग'में लिखा है : 'एकबार मैं स्वामी विशुद्धानन्दजीके पास सत्संगमें बैठा था। मैंने कहा : 'संसार सच्चा दीख रहा है, इसे वेदान्ती मिथ्या कहते हैं, यह कैसे मान लें?'

स्वामी विशुद्धानन्दजी : 'इसमें माननेकी क्या बात है, यह सत्य तो सर्वथा प्रत्यक्ष है।

मैं : 'यह कैसे?'

वे : 'तुम्हें यहाँ क्या सच दीखता है?'

मैं : 'मेरा शरीर है, आपका शरीर है, यह गुलाबका पौधा है, इसमें काँटें हैं, पुष्प हैं।'

वे हँसने लगे। दूसरी चर्चा करने लगे। थोड़ी देर बाद बोले : 'तुम्हारा वह गुलाबका पौधा कहाँ है ?'

वह तो चम्पेका पौधा हो गया था। लम्बे चिकने पत्ते। काँटें नदारद और फूल चम्पेके।'

संकल्प-बल रखनेवाले लोग वस्तुको बदल सकते हैं, यह तो ठीक है। लेकिन संस्कारकी वस्तुएँ ठोस सत्य होतीं तो स्वप्नके पदार्थोंके समान मनके संकल्पसे उन्हें कैसे बदला जा सकता था ?

हमारे शरीरमें हमारा क्रोध, काम आदि भी कुछ परिवर्तन करते ही है। वस्तुएँ यदि मानसिक न होतीं तो उनमें मनोबल कैसे परिवर्तन करता ? अतः कर्मके फलस्वरूप, संस्कारोंके फल-स्वरूप हमारा मन जैसा बन गया है, सृष्टि हमें वैसी दीखती है। इसमें परमार्थ क्या है ? पदार्थोंमें परमार्थ पञ्चभूत हैं और पञ्च-भूतोमें परमार्थ सत्ता है। सत्ता और प्रकाशमें भेद नहीं है।

चार्वाक कहते हैं : 'सत्तासे ज्ञान प्रकट हुआ', तो बौद्ध कहते हैं : 'सत्ता ज्ञानसे प्रकट हुई।' द्वैतवादी कहते हैं : 'सत्ता और ज्ञान दोनों सदा रहते हैं।' सांख्यका कहना है : 'जीव और प्रकृति दोनों नित्य हैं।' 'ईसाई-मुसलमान आदि मानते हैं : 'पहले ज्ञाना-त्मक सत्ता, ईश्वर था।' वेदान्ती कहते हैं : 'सत्ता और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं। ज्ञानात्मक सत् चैतन्य है, द्रष्टा और सत्तात्मक जगत्-कारण है सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्। ये दोनों एक हैं। इनके एकत्वमें विश्व कुछ भी नहीं है।'

मत्तः परतरं नास्ति : 'अहमेव परमार्थसत् इत्यर्थः।' मैं ही

परमार्थ-सत्ता हूँ, मेरे सिवा और कुछ नहीं है। दूसरा सब अपर-मार्थसत्ताक हैं, भासते हुए भी नहीं है।

मयि सर्वमिदं प्रोतम् : 'मयि सूत्रे इदं सर्वं प्रोतम्'—मैं सूत्र हूँ और मुझमें यह सब पिरोया हुआ है।

सूत्र और मणिका यह दृष्टान्त महात्माओंने अनेक प्रकारसे समझाया है। जैसे : रुद्राक्ष, तुलसी, मोती, हीरेकी मालामें सूत अलग और रुद्राक्ष आदिके दाने अलग होते हैं। द्वैतवादी कहते हैं : 'यह आधार-आधेयभाव हो गया। आधार सूत और आधेय मनके, इसी प्रकार आधार, जगदाधार भगवान् और उनमें आधेय जगत् है।

इसपर शंका होती है कि कहीं-कहीं आधार दीखता है, आधेय नहीं। जैसे सन्दूकमें हीरा रखा हो तो सन्दूक दीखेगी, हीरा नहीं। भगवान् बहुत बड़े हैं। उनमें यह संसार-प्रपञ्च रखा है तो भगवान्को दीखना चाहिए, संसारको नहीं।

यहाँ भगवान्ने दृष्टान्त दिया : 'आधार सन्दूकके समान नहीं, मनकोंमें सूतके समान है।' इसमें आधार सूत नहीं, आधेय मनके दीखते हैं। सबमें अन्तर्यामी रूपसे विद्यमान परमात्मा आधाररूप है तो जगत् आधेयरूप। लेकिन भगवान्ने तो कहा है कि 'मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।' अतएव दृष्टान्त ऐसा होना चाहिए जो उसके अनुरूप हो।

श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने इसपर एक टिप्पणी लिखी और उसे श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीजीने उद्धृत किया है : 'कनके हारवत् तु सुगमो दृष्टान्तः।' जैसे सोनेका सूत (तार) हो और उसमें सोनेके ही मनके पिरोये हों, उससे 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिद-

स्ति' की संगति ठीक लगती है। सबके मनके अलग-अलग हैं और सोनेके ही सूतमें पिरोये हैं। वहां आधार-आधेयभाव सत्य है और 'मत्तः परतरं नान्यत्' भी। यही बात ज्ञानेश्वर महाराजने भी कही है :

सुवर्णसूत्रे ग्रथिताः सुवर्णमणयो यथा।
मया धृतं जगत्सर्वं सबाह्याभ्यन्तरं तथा॥

कई सम्प्रदायोंमें सूतकी माला बनायी जाती है। सूतके मनके और सूतकी ही गाँठ लगाते हैं। सूतको ही बड़ी गाँठें लगाकर मालाके मनके बना देते हैं। ऐसे ही भगवान्‌के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। वही आधार सूत्र हैं और वही जगद्रूप मनके भी बने हैं।

श्री मधुसूदनसरस्वतीने अर्थ किया : 'यहाँ सूत्रका अर्थ है सूत्रात्मा।' बढ़ईको लकड़ीमें मूर्ति बनानी हो तो सूत रंगकर चिह्न कर देता है कि यहांसे काटेंगे। तब मनसे देखता है कि लकड़ीमें मूर्ति कैसी बनेगी? ऐसे ही मूर्तिकार शिला देखकर उसमें कल्पना-से मूर्ति देख लेता है। कारीगरके मनमें यह जो मूर्ति है, वह सूत्रात्मक है। ऐसे ही ईश्वरके संकल्पमें ही यह जगत् है। स्वप्नमें दीखा हीरा, पन्ना आदि सूत्रात्मा स्वप्न-द्रष्टासे पृथक् नहीं है।

पंचदशीकार श्री स्वामी विद्यारण्यजीके गुरुस्वामी शंकरा-नन्दजीने इस श्लोकको टीकामें लिखा है : 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति' से भगवान् कहते हैं : 'मैं सर्वोपादान हूँ और 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'से मैं सर्वव्यापी हूँ। यहाँ 'सूत्रे मणिगणा इव' दृष्टान्त कार्यकी दृष्टिसे नहीं है। यहाँ तो परम कारणका निरूपण हो रहा है। अतः यहाँ सूतमें मनकोंके समान साधारण दृष्टिसे

विचार नहीं करना चाहिए। यही विचार करना होगा कि सूत भी पाञ्चभौतिक और मणि भी पाञ्चभौतिक। पाञ्चभौतिकत्वेन सूत्रमें मणि और मणियोंमें अनुस्यूत सूत्र दोनों एक ही हैं। सूत्र तथा मणियोंका नाम-रूप, गुण-स्वभाव-प्रभाव पृथक् और गुरुत्व पृथक् है; लेकिन पाञ्चभौतिक रूपसे दोनों पञ्चभूत ही हैं। इसी प्रकार अनुगत, किंचित्, परिच्छिन्न दीखनेवाला प्रपञ्च भी परमात्मासे भिन्न नहीं है।

अर्जुनने गीताके ग्यारहवें अध्यायमें कहा है :

सर्वं समाप्नोसि ततोऽसि सर्वः।

अर्थात् सबमें भगवान् परिपूर्ण हैं। एकबार ध्यान करो कि सब स्त्री-पुरुष देव-दैत्य, पशु-पक्षी मनके हैं। ये सब जो पृथक्-पृथक् पैदा हुए हैं, मनके हैं। जिसके कारण सब प्रकाशित होता है, वह हम सबमें एक ही अन्तर्यामी सूत्रात्मा व्याप्त है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भगवान्‌के गलेका हार है। विराट्‌के शरीरमें एक-एक ब्रह्माण्ड एक-एक मनका है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी संकल्प-राशि मनका है और सूत्र है हिरण्यगर्भ। माया मनका है और उसमें सूत्र है ईश्वर। ब्रह्म स्वयं सूत्र और स्वयं माला है। वह अद्वितीय है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

सर्वेन्द्रिय मनके हैं और उनको प्रकाशित करनेवाला 'सर्वेन्द्रिय-विवर्जित' सूत्र है।

सहस्रशीर्षा: पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् यह विराट् सूत्र है। व्यवहारकी दृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणी उसी अद्वय परमात्मामें हैं: 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और परमार्थकी दृष्टिसे 'न च मत्स्थानि भूतानि' उसमें कोई भूत नहीं हैं। व्यवहारकी दृष्टिसे वह सबको अपनी माला बनाकर धारण करता है और परमार्थकी दृष्टिसे वही वह है।

६. सर्वात्मकता का निरूपण

संगति :

अब सर्वात्मबोधके लिए भगवान् अपनी सर्वात्मकताका दृष्टान्तों-द्वारा वर्णन करते हैं।

'सर्वात्मभाव' और 'सर्वात्मबोध'में अन्तर है। भावदृष्टि कर्ताके अधीन होती है, भाव किया जाता है; लेकिन बोधदृष्टि कर्ता नहीं, वस्तुके अधीन होती है। भावमें श्रद्धाकी प्रधानता होती है, जब कि बोधमें प्रमाणकी आवश्यकता है। भावमें आवृत्ति करनी पड़ती है, पर बोधमें नहीं। भावसे फलात्मक वृत्ति 'अहं'का उदय होता है, जब कि बोधमें नहीं।

यह सर्वात्मबोध महात्माका स्वरूप है। महात्मा खुले नेत्रोंसे ईश्वरका अनुभव करता है। वह ईश्वरको ही नेत्रोंसे देखता, त्वचासे छूता, जीभसे चखता, नाकसे सूंघता, कानसे सुनता और मनसे सोचता है।

यदि भगवान् अपनेको सब जगह अनुभव करते हैं तो तुम भी उन्हें सब जगह अनुभव करो; क्योंकि भगवान्‌की दृष्टि ही सच्ची है। यदि उनकी दृष्टिसे भिन्न तुम्हें दीखता है तो तुम्हारी दृष्टि झूठी है। भगवान् कहते हैं : 'मैं सब हूँ,' तो उनके विषयमें महात्मा भी यही अनुभव करते हैं। इसी अनुभवका वर्णन है :

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

कौन्तेय ! मैं जलमें रस हूँ। चन्द्र-सूर्यमें प्रभा हूँ। सब वेदोंमें प्रणव हूँ। आकाशमें शब्द हूँ और मनुष्योंमें हूँ पौरुष।

कौन्तेय। 'कुन्त' यानी भालेके समान तीक्ष्ण मर्मस्पर्शिनी बुद्धिवाली है कुन्ती। उसका पुत्र हुआ कौन्तेय=अर्जुन।

अप्सु। श्रुति कहती है कि जल परमात्माका वीर्य है: आपः पुरुषवीर्याः स्थ। जितने ब्रह्माण्ड बनते हैं, सब जलसे बनते हैं; क्योंकि जलसे ही पृथ्वी बनती है। मिट्टीकी प्रधानतासे सृष्टिका वर्णन होगा तो बीजसे अंकुरकी भाँति कहेंगे। जलका संयोग वहाँ भी चाहिए। सूखे बीजका नाम 'प्रकृति' है, अंकुरोन्मुख बीजका नाम 'महत्तत्त्व' तो अंकुरका नाम है 'अहंकार'। सूखा बीज जलके संसर्गसे फूलता है।

श्रुति कहती है: सलिलमासीत्। सृष्टिके प्रारम्भमें केवल जल ही जल था। महाराज मनुने भी कहा है: अप एव ससर्जादौ। 'अप्' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है; क्योंकि जल बूँद-बूँद ही रहता है। इस बहुवचनसे जलका बहुत्व और स्वादका बहुत्व सूचित होता है। समष्टि जलतत्त्वका अधिष्ठातृ देवता वरुण है। जल मीठा-खारा, हल्का-भारी आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका होता है। शरीरमें भी पसीना, आँसू, थूक आदि भेदोंसे जलके अनेक रूप हैं। ऐसे ही वरुण भी पिण्ड, ब्रह्माण्ड और समष्टिके अलग-अलग हैं।

सब प्रकारके जलोंमें, सबकी जीभोंमें, सब वरुणोंमें, कारण-वारिमें भी जो रस है, वह भगवान् हैं। रसका अनुभव तभी

होता है, जब अपने हृदयमें रस हो। यदि किसी रोगके कारण जीभ सूख जाय तो जीभपर नमक या चीनी रखनेपर भी पता नहीं लगता। अपने भीतर रस नहीं होगा तो बाहरी रसका पता नहीं लगेगा। अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है कि अपने भीतरके रससे बाहरकी वस्तुको रसीली बनानी पड़ती है। जब पुरुषके हृदयमें रस प्रकट होगा, तब जलमें रसका दर्शन होगा। जिसने देखा कि हमारे हृदयमें रसरूप परमात्मा प्रकट है, उसे मत्तः परतरं नान्यत् का साक्षात्कार होगा।

न वा अरे जायायाः कामाय जाया प्रिया भवति,

आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

श्रुति कहती है कि पत्नीके लिए पत्नी प्यारी नहीं होती, अपनेको उससे सुख मिलता है, इसलिए वह प्यारी होती है। पुत्रके लिए पुत्र प्रिय नहीं, अपने लिए प्रिय है। अन्तरतम आत्मा ही प्रियतम है।

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा।

पुत्रात्प्रेयः वित्तात्प्रेयः अन्यस्मात् सर्वस्मात्प्रेयः।

'पुत्रसे, धनसे और दूसरे सभी प्रियसे प्रिय आत्मा है।' रसका तब अनुभव होता है, जब हृदय और वस्तु अपनेको छोड़कर रसरूप हो जाते हैं।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति। अर्थात् परमात्मा रसरूप है। उस रसकी उपलब्धि हो जाय तो मानव आनन्दी हो जाता है।

आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्। श्रुति कहती है कि

आनन्द ही ब्रह्म है। जो जानता है कि रस मुझमें नहीं, बाह्य विषयोंमें है, वह कंगाल है।

एकबार श्री उड़ियाबाबाजी महाराज पैदल प्रयाग जा रहे थे। साथमें आठ-दस लोग थे। उनमें कुछ ब्रह्मचारी भी थे। ब्रह्मचारियोंने कहा : 'आज कच्चा अन्न माँग लाते हैं और गंगा-किनारे भोजन बनाते हैं।'

ब्रह्मचारियोंने आटा, दाल, नमक, हल्दी आदि माँगकर जुटायी और भोजन बनाना प्रारम्भ किया। एकने कहा : 'घी भी तो चाहिए।'

पटनाके बाबा रामदासजीसे कहा गया : 'तुम जाकर घी ले आओ।'

वे सीधे-सादे साधु गाँवमें गये और दूकानदारके सामने कमण्डलकी कटोरी करके बोले : 'इसमें तोलाभर घी दे दो।'

दूकानदारने उन्हें फटकार दिया : 'बड़ा घी खानेवाला आया है! सूरत है घी खानेकी ?

वे लौट आये, तो फिर सलाहकर पलटूबाबा भेजे गये। गाँवमें जाकर वहाँके नम्बरदारका घर पूछा और उसके सामने जाकर खड़े हो गये। वह बैठा रहा, उठा नहीं। वे भी खड़े रहे। जब नम्बरदारने देखा कि साधु कुछ कहता नहीं, तो उठकर खड़ा हुआ। बोला : 'महाराज! क्या चाहिए ?'

पलटूबाबा : 'पहले हमारे बैठनेको कुर्सी लाओ।'

कुर्सी आयी, बैठ गये तो बोला : 'आज्ञा ?'

पलटूबाबा : 'पहले प्रणाम करो, तब आज्ञा!'

उसने प्रणाम करके पूछा : 'अब आज्ञा करें।'

पलटूबाबा : 'संत लोग गंगा-किनारे चलते हुए यहाँ आये हैं। उनके लिए चावल, दाल, आटा आदि आ गया है। वहाँ रसोई बन रही है। अब सवा सेर घी चाहिए। तुम्हारे घरमें हो तो दे दो। न हो तो गाँवके नम्बरदार हो, सबके घरोंसे मँगवा दो।'

वह बोला : 'महाराज, हम अपने घरसे दे देते हैं।'

वे सवा सेर घी लेकर आ गये।

सारांश, जो कंगाल बनकर माँगने जाता है—'हमारे भीतर कोई रस नहीं,' तो संसारमें भी वह नहीं मिलता। जब महात्माके हृदयमें रसकी बाढ़ आती है—रस-रूप परमात्मा प्रकट होता है, तो वह जिसकी ओर देखता है, वही रसीला बन जाता है।

तुम जब कहते हो : 'हमें यह चाहिए, यह चाहिए' तो हृदयमें बैठा ईश्वर भी नाराज हो जाता है कि वह रस-रूप भीतर बैठा है और उसका तिरस्कार कर यह कंगाल बना जा रहा है।

रसोऽहमप्सु। भगवान्ने पहले अपना लुभावना रूप बतलाया कि वे रस हैं। पहले कहा : 'सब मैं हूँ' अब जहाँ-जहाँ विशेष सत्ता अभिव्यक्त हो रही है, वह बतलाते हैं। घड़ा, कपड़ा, मकान आदि सबमें नाम-रूपको छोड़कर जो 'अस्ति' है, वह (सत्ता) भगवान् हैं।

जलको विज्ञानवेत्ता कोई तत्त्व नहीं मानते। वे कहते हैं : 'दो गैसों—आक्सीजन और हाइड्रोजनके मिलनेसे जल बनता है। जल नामकी कोई मूलवस्तु नहीं। पृथ्वी, अग्नि, वायु ही तत्त्व हैं।

लेकिन वैज्ञानिक तो यन्त्रों द्वारा जलका विश्लेषण कर नेत्रोंसे उसे देखते हैं। किन्तु जिसे हमारा दर्शन और हम 'जल' कहते हैं,

उसका ज्ञान नेत्रोंसे नहीं होता। जलका ज्ञान करनेवाली इन्द्रिय 'रसना' है। जलका मूलतत्त्व (तन्मात्रा) रस है और वह जीभसे ही जाना जाता है।

नैयायिकोंने जलके स्वरूपके सम्बन्धमें कहा है कि रसवत् तत्त्वको जल कहा जाता है: रसनाग्राह्यो गुणो रसः। जीभसे जिसका पता लगे, वह रस और यह रस जिस वस्तुमें हो, उसका नाम है जल। जैसे नाकसे सूँघते हैं तो उसका नाम 'गन्ध' है। आँखोंसे जिसे देखते हैं, उसका नाम है 'रूप'। इस प्रकार हमारे अनुसन्धानकी प्रणाली ज्ञानात्मासे है।

न्यायने कहा : 'जल द्रव्य है और रस उसका आश्रित गुण।

सांख्य कहता है : 'रस कारण है और जल कार्य। रस-तन्मात्रासे जल उत्पन्न होता है।'

'योग' साधन-दर्शन है तो 'सांख्य' साध्य-दर्शन है। 'न्याय' प्रमाण-दर्शन है तो 'वैशेषिक' प्रमेय-दर्शन।

जब हम योगाभ्यास द्वारा रस-संवित् उत्पन्न करते हैं, तब सम्पूर्ण शरीरसे, किसी भी अंगसे रसका ग्रहण हो सकता है। सात्त्विक तन्मात्रासे बनी इन्द्रियाँ देहमें व्यापक होती हैं, पर सूक्ष्म होनेके कारण वे अपने गोलकमें प्रकट होती हैं और शेष शरीरमें अप्रकट रहती हैं। योगाभ्याससे जब इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष किया जाता है तो सम्पूर्ण देहमें कहीं भी किसी इन्द्रियकी उपलब्धि की सकती है। योगी चाहे तो हाथसे छूकर गन्ध या रंग बतला सकता है।

सांख्य और योगकी भूमिकामें रस कारण है, और जल कार्य। अतः जलमें रस व्यापक है। कार्यमें कारण व्यापक होता ही है।

पूर्वमीमांसाके अनुसार जिह्वा, रस, जल और सभी इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ तथा भूत जीवोंके समष्टिकर्मसे उनके भोगके लिए बने हैं। कर्म संस्कारजन्य होनेके कारण इनमें जन्य-जनकभाव है। इस प्रकार ये तात्त्विक दृष्टिसे सत्य नहीं हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे तो कार्य-कारणभाव कल्पित ही है।

रसोऽहमप्सु : एक अप्‌मूलक रस होता है और एक रस-मूलक 'अप्'। पानीके साथ स्वाद मिले यह एक और दूसरा यह कि बिना पानीके स्वाद मिले। जिसमें पानी न हो, ऐसा स्वाद जीभपर नहीं आ सकता। कड़वा, मीठा, खट्टा, चरपरा, कसैला, नमकीनका अनुभव तबतक नहीं हो सकता, जबतक जीभमें पानी न हो। अतः ये रस इन्द्रिय-मूलक हैं। इन्द्रियोंको रोक लेने-पर निवृत्त हो जाते हैं, लेकिन फिर जाग जाते हैं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

यहाँ रस शब्दका अर्थ इन्द्रिय एवं विषयके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला रस नहीं है। यहाँ रसशब्दका अर्थ है 'राग'।

रसशब्दाच्च रागः। —शाण्डिल्यदर्शन

'निराहारस्य देहिनः विषया विनिवर्तन्ते, रागो न निवर्तते' : अर्थात् विषय-त्याग देनेपर भले ही तुम्हारे मुखमें पदार्थ न जायँ; पदार्थोंमें जो राग है, वह नहीं मिटेगा।

इन्द्रियोंकी द्रवावस्थामें रसका अनुभव होता है। चित्तमें अप्-तत्त्वका उदय हुए बिना संसारमें राग नहीं होता। चित्तकी द्रवावस्था होनेपर ही हास्य, श्रृङ्गार, करुणा आदि नवरसोंका अनुभव होता है, जैसे कि जीभमें गीलापन होनेपर मीठा, कड़वा

आदि षट् रसोंका अनुभव होता है। चित्तकी द्रवावस्था न हो तो रसका स्थायीभाव ही नहीं बनेगा। उद्दीपन, आलम्बन, अनुभाव, सात्त्विक, संचारीसे जब हमारा हृदय द्रवित होता है, तभी रसानुभव होता है।

'रसवर्जम्' : परमात्माका दर्शन किये बिना रस, रागकी निवृत्ति नहीं होती। रागात्मक और विषयात्मक दोनों रस संसारमें फँसानेवाला है। हमें चाहिए रस, कैसा ?

सन्ध्यामें मन्त्र आता है :

आपो हि ष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधात नः। महेरणाय चक्षसे।
यो: वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयते ह नः। उशतीरिव मातरः॥

अर्थात् हे जलदेवता ! तुम माता हो। 'आपः' शब्द स्त्रीलिंग है। जैसे माँ बच्चेको दूध पिलाती है, वैसे तुम हमें रस दो; किन्तु वह रस दो जो तुम्हारा शिवतम, कल्याणकारी है।

शिवतम रस क्या है ? जलकी बूँदें पृथक्-पृथक् हैं : कड़वी, मीठी आदि। रस अलग-अलग हैं। सबकी जीभें अलग-अलग हैं और उनमें जो राग है; वह भी अलग-अलग। इन सबका मूल कारण माया नहीं, जो रसका आभास देती है। परमात्मा ही रसरूप है। 'तस्य भाजयते ह नः'—उसका हमें भाजन बनाओ। 'उशतीरिव मातरः'—प्रशस्त, श्रेष्ठ माताके समान।

जैसे रस-रूप गुण जलका आश्रय कर रहता है; वैसे ही रस-रूप तन्मात्रा जलमें अनुगत रहती है ! विषय-रस, भावरस, समाधिरस सबमें रस है।

कोई कहते हैं। 'समाधिमें कोई रसानुभव नहीं होता।' सम्प्रज्ञात समाधिमें रसास्वाद हो सकता है, पर उसे 'योगका विघ्न'

मानते हैं। असम्प्रज्ञात निर्विकल्प निर्बीज समाधिमें जहाँ भोक्ता-भोग्यभाव लीन हो जाता है, कोई रस नहीं होता। समाधिको बहुत महत्त्वपूर्ण समझकर पहले चाहते हैं। जब अभ्यास करते-करते समाधि लग जाती है, तब उससे उठनेपर अनुभव करते हैं: 'इतनी महत्त्वपूर्ण स्थिति हमें प्राप्त हो गयी।' इससे जो हर्षावेग होता है, उसीको 'समाधिका रस' कहते हैं। समाधिमें भोक्ता-भोग्यके लय होनेपर बीजात्मक रस है, तो बीजात्मक द्रवावस्था भी है।

सच्चा रस न अवस्थासे सम्बन्ध रखता है, और न देश, काल-वस्तु, अभ्यास या प्रयत्नसे। वह स्वतःसिद्ध रस है: आनन्दो ब्रह्म। यह सर्वत्र सर्वव्यापक रस है। किसीको भोजनका रस लेना है तो अधिक खाया नहीं जायगा। अधिक खानेपर अरुचि हो जायगी या बीमार हो जाओगे।

बचपनमें मुझे सबेरे पढ़ने जाना पड़ता था। अतः दूधमें चावल पकाकर दे दिया जाता था। एक दिन रातका बचा भात दूधमें डालकर दिया गया तो मुझे लगा कि दूधमें कीड़े पड़े हैं। तबसे खीर देखकर उल्टी आने लगी। बीसों वर्ष खीर न खा सका। श्री उड़ियाबाबाजी महाराजको मालूम पड़ा तो मखानेकी खीर खिलायी। फिर लौकीकी खीर दी। धीरे-धीरे बदलते-बदलते खीर खा सकता हूँ, पर अरुचि गयी नहीं।

इस प्रकार प्रत्येक भोजनमें यदि अधिकता की जाय तो अरुचि हो जाती है। बहुत अधिकता की जाय तो खानेकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है।

जौं मोहि राम लागते मीठे।
तौ षट्रस नवरस अनरस रस ह्वै जाते सब सीठे॥

जब इस परमरसकी प्राप्ति होती है, तब संसार-रसकी निवृत्ति हो जाती है। स्त्री-पुरुषमें, भोजन-वस्त्रमें, गन्ध-रूपमें, शब्द-स्पर्शमें, भाव करनेमें, सोचनेमें या समाधिमें जो रस हैं, सब फीके पड़ जायँ—यदि ज्ञात हो जाय कि ये बूँद-बूँद पानीके विलास हैं। सृष्टि भी पानीकी बूँद ही है, अण्डेमें जल ही तो होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता आदि सब पानीसे ही प्रकट हुए हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भी जलसे ही उत्पन्न है।

जब आदिसृष्टि हुई तो पहले जल ही था। उस कारण-वारि-में जो रसात्मक परमानन्दघन है, वही परमात्मा है। यह बूँद-बूँद जो जल दीख रहा है, उसमें वही रसरूपसे बैठा है। रस सबका कारण है। रसकी रुचि सबमें है। रस सबका सार है। रस सर्वत्र है।

एकबार एक चित्रशाला देखने गये। मैसूरकी उस चित्रशाला-में विभिन्न चित्रोंको देखकर कहीं रोना आया, कहीं हँसना, कहीं क्रोध, कहीं घृणा; लेकिन निकले तो लगा कि बड़ा मजा आया! यह जगत् चित्रशाला ही तो है :

शून्य भीत पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।

निरुपादान - संरम्भमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

कितनी अद्भुत कला है कि हाथमें तो तूलिका नहीं, त्रिशूल है और रंग - भित्तिके बिना ही यह जगच्चित्र बना दिया! इसमें रोना, हँसना, क्रोध सब कुछ आता है।

केशव कहि न जाय का कहिये!
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥

उस रसरूपमें परमात्माको पहचान लो तो तुम्हारे जीवनमें रस ही रस हो जाय।

एक आचार्य कहते हैं : "भगवान्‌के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। इस बातको कहनेमें जो भावना बनती है, वह साधन है और फल है 'मत्तः परतरं नान्यत्'।"

मधुसूदन सरस्वतीजी ने लिखा है : 'इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यते इति नातीनाभिनिवेष्टव्यम्।' इस विभूतिका उपदेश ध्यानके लिए किया जा रहा है। इसमें अधिक अभिनिवेश न करें।

दूसरे आचार्य कहते हैं : 'जब ज्ञान हो गया कि परमात्माके सिवा दूसरा कोई नहीं, तब वह ज्ञान चलते-फिरते, खाते-पीते बना रहे, इसीलिए इन विभूतियोंका वर्णन है।'

प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः। 'आनन्दाभिव्यञ्जकत्वादप्सु रसः, प्रकाशाभिव्यञ्जकत्वात् शशि-सूर्ययोः प्रभा।' अर्थात् आनन्दाभिव्यञ्जक होनेसे जलमें रस और प्रकाशाभिव्यञ्जक होनेसे शशि-सूर्यमें प्रभा भगवान् हैं। श्रुति कहती है :

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

इस मन्त्रमें 'भा' अक्षर छहबार आता है। इसी 'भा'के साथ जब 'प्र' उपसर्ग लगा तो 'प्रभा' बन गया। प्रभा=कान्ति। सृष्टिमें जितनी चमक आती है, सूर्य-चन्द्रसे आती है। एक महात्माने बतलाया था :

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नानौषधि वनस्पतिः।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः॥

अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं, जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई वनस्पति नहीं, जो ओषधि न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें कोई योग्यता न हो। किन्तु उनका प्रयोक्ता दुर्लभ है।

तुममें कोई चमक न होती तो क्या शीशेमें कभी मुख देखते? कोयलेमें भी एक प्रभा होती है। निश्चित ताप देनेपर कोयला 'हीरा' बन जाता है। यदि चमक न हो, तो वस्तुका ज्ञान कैसे होगा? यह सभी प्रभा परमात्माकी है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥

श्रुतिमें आया है: 'भारूपः' अर्थात् परमात्मा भा-रूप है। गीता कहती है:

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने एकबार सत्संगमें पूछा: 'भगवान्ने विभूतियोगमें कहा है कि अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्। यह बात तो स्पष्ट है कि बीज पृथ्वीमें पड़ा, उस बीजमें जो संस्कार था, उसके अनुसार पीपलका वृक्ष उगा। अब तत्त्वज्ञानी पीपलको क्या देखेगा?'

एक सत्संगी: 'घटका द्रष्टा जैसे घटसे न्यारा है, वैसे ही पीपलका द्रष्टा मैं पीपलसे न्यारा हूँ।'

श्री महाराज: 'ज्ञान हो जानेपर हमसे न्यारा कुछ और किसीसे न्यारे हम नहीं रहता। पीपल आत्मरूप ही है।

'द्रष्टा दृश्यसे न्यारा है' यह विवेक है, जो जिज्ञासुकी खोजकी दशा है, पूर्णता नहीं।

एक काश्मीरी शैवने अनुभव किया : 'मैं महेश्वर हूँ। यह सृष्टि मुझसे अभिन्न है।'

एक भक्त अनुभव करता है : 'समूची सृष्टि भगवद्रूप है।'

एक वेदान्तीने अनुभव किया : 'देहमें जो आत्मरूपसे है, वही समूचि सृष्टिमें परमात्मरूप है। सृष्टि प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मामें अध्यस्त है। अतः परमात्मासे पृथक् नहीं। इसलिए सृष्टिमें जो कुछ भास रहा है, वह सब अपना स्वरूप है।'

यहाँ जो 'रसोऽहमप्सु' आदि है, वह एक तो भक्तकी दृष्टि है कि परमात्मा रस-रूपसे, प्रभारूपसे है। दूसरी आत्म-दृष्टि है। यह जीवन्मुक्तकी दृष्टिका अनुवाद है।

सेठ श्री जयदयाल गोयन्दका एकबार कर्णवासमें सत्संग करा रहे थे। दिनमें सत्संग करवाते और शामको श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके पास जाकर बैठते। एक दिन उनका सत्संग वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः पर हुआ। सत्संगसे उठकर मैं बाबाके पास गया। बाबाने अचानक दोनों हाथोंमें बालू उठाकर कहा :

'शन्तनु! देखो याद रखना, जबतक यह बालू ब्रह्म न जान पड़े तबतक समझना कि ब्रह्मका ज्ञान नहीं हुआ, यह झूठका ही ज्ञान हुआ।'

जिनको ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, उनके लिए न 'मैं' ब्रह्मसे जुदा रहता है और न 'प्रपञ्च' :

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

यह जो प्रसंग चल रहा है, वह भक्तके लिए, जिज्ञासुके लिए; सभीके लिए उपयोगी है।

प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः। जिस चमकके रहनेसे चन्द्रमा चन्द्रमा और सूर्य सूर्य है, वह चमक भगवान् है। श्रुति कहती है : तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। उसी भासमान परमात्माके होनेसे चन्द्र और सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं। चन्द्र-सूर्य तो उपलक्षण हैं। अधिभूत रूपसे तो सूर्य-चन्द्र दीखते ही हैं। नेत्र और मनमें जो सूर्य-चन्द्र हैं, वे अध्यात्मरूप हैं। चन्द्र और सूर्यमण्डलोंमें जो चन्द्रबीज और सूर्यबीज चैतन्यविशेष उन मंडलोंसे तादात्म्यापन्न हैं, वे चन्द्रदेवता और सूर्यदेवता अधिदेव हैं।

साधकके हृदयमें यही ज्योति जब रक्षणके लिए उदित होती है तो उसका नाम 'भाव' होता है और यही 'भाव' जब सब उपाधियोंसे पृथक् होता है तो इसका नाम 'भान' होता है। सत्ता-स्फूर्तिमात्र ही जहाँ है, वह 'भान' है : भानमात्रं परं ब्रह्म। सोम रसात्मक ज्योति है तो सूर्य कलात्मक ज्योति। सब वनस्पतियोंका पोषण सोमात्मक ज्योतिसे होता है। वह मनका अधिदेवता है।

मुझसे किसीने पूछा: 'यह तो मालूम पड़ता है कि नेत्रसे रूप देखते हैं तो उसमें सूर्य-रश्मियोंका सम्बन्ध है। किन्तु और अधि-देवताओंका तो पता ही नहीं चलता कि वे कैसे काम करते हैं? मनका देवता चन्द्रमा है, तो कैसे पता लगे कि वह मनको शक्ति देता है?

चन्द्रकी किरणोंसे वनस्पति पुष्ट होते हैं और अन्न, फलादि जब हमारे पेटमें जाता है, तब मन काम करता है। पेटमें अन्न न

जाय तो मन काम नहीं करता। जैसे नेत्र बिना प्रकाशके रूप नहीं देख सकते, वैसे ही हमारा मन चन्द्रसे अभिषिक्त अमृतयुक्त औषधिका आहार पाये बिना काम नहीं कर सकता।

'प्रभास्मि शशि' : चन्द्रमामें जो विषयोंको उद्भूत करने तथा हमारे मनको उज्जीवित करनेकी शक्ति है, वह भगवान् ही है।

और 'सूर्यंयो:' : अध्यात्ममें नेत्र सूर्य है, रूप है विषय। नेत्र, सूर्य और विषयोंमें जो प्रकाश है, वह परमात्मा है। नेत्रसे इन्द्रियत्व, सूर्यसे देवत्व और विषयोंसे नाम-रूप छोडकर देखो तो भानमात्र, प्रकाशरूप परमात्मा ही इन नेत्र, सूर्य और विषयोंके रूपमें विवर्तित दीख पड़ेगा।

इसी तरह जितने संकल्प-विकल्प हैं, जिन-जिन विषयोंका संकल्प आता है, सब विषय अधिभूत, जड़ हैं। संकल्पक मन अध्यात्म है। चन्द्रमण्डलमें अन्नरसकी समष्टिको 'मैं' के रूपमें स्वीकारकर जो चैतन्य बैठा है, वह अधिदेव चन्द्रदेवता है। मन, चन्द्रमण्डल एवं अधिभूत अन्नरसमें जो ज्योति है, वह वही भानरूप परमात्मा है।

जिज्ञासुके चित्तमें भगवान्‌में रुचि जगे, इसके लिए भगवान्‌ने बतलाया : 'मैं रसरूप हूँ। मेरी ओर चलोगे तो तुम्हें रस मिलेगा।' 'रस मिले, किन्तु मालूम न पड़े तो?' इसीलिए बतलाया : 'प्रकाश भी मैं ही हूँ, जिससे वह रस मालूम पड़ता है।

उसे पहचाननेका साधन क्या है ? तो कहते हैं : प्रणवः सर्ववेदेषु। परमात्मा एक है। वह आनन्दस्वरूप है। ॐकार द्वारा उसे प्राप्त करो।

प्रणवः सर्ववेदेषु। प्रणव भगवान्‌का नाम है। कहते हैं कि प्रणवोच्चारणके बिना वेदपाठ निष्फल होता है। मन्त्रका उच्चा-

रण भी ॐकारपूर्वक ही होता है। मन्त्राणां प्रणवः सेतुः—मन्त्रोंमें प्रणव दो मन्त्रोंको पृथक् करता है। जैसे गायत्री-मन्त्रका जप करना हो तो दो मन्त्रोंको प्रणव पृथक् करता है।

समस्त वेदोंका सार उपनिषदोंमें है। इन उपनिषदोंमें माण्डूक्य-मेकमेवालं मुमुक्षूणां-विमुक्तये एकमात्र माण्डूक्य ही जिज्ञासुके लिए पर्याप्त है। माण्डूक्यका सार है विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। इनका भी सार एक शब्दमें बोलना हो तो अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रात्मक प्रणव।

व्याकरणकी रीतिसे प्रणव-शब्दका अर्थ है :

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते इति प्रणवः।

'नूयते अनेन' : जिससे खूब स्तुति हो।

नैरुक्तोंने प्रणव-शब्दकी व्युत्पत्ति बदल दी है :

पुरापि नव एव इति प्रणवः।

अर्थात् यह पहले भी नया था, आज भी नया है, आगे भी नया रहेगा—नित्य-नवीन है।

प्रणव यानी ओम्कार। 'अवति इति ओम्' : जो रक्षा करे उसे 'ओम्' कहते हैं। जो हमारी रक्षा करता है, वह 'ओम्' है। 'ओम्' से ही ॐकार हुआ है। वर्णात् कार इति निर्देशात्—'प्रणवको ही स्वर मानकर 'कार' जुड़ गया। यह जिह्वासे जप करनेपर भी रक्षा करता है और ध्यान करनेसे भी रक्षा करता है।

योगदर्शनने कहा है : 'यदि अपने चित्तको शुद्ध और स्थिर करना है तो ईश्वर-प्रणिधान करो कि 'ईश्वर ज्ञानस्वरूप, आनन्द-स्वरूप है।'

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

वह ब्रह्मादि सबसे प्राचीन है ; क्योंकि अविनाशी है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्।

अर्थात् क्लेश, कर्मविपाक, अन्तःकरणसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है। सीमातीत, सम्पूर्ण सर्वज्ञता उस ईश्वरमें ही रहती है। उसका वाचक प्रणव है। अतएव इस प्रणवका जप और उसके अर्थकी भावना करो।

मन्त्रयोग हठयोग, लययोग, राजयोग सबमें प्रणवकी जरूरत है। भक्तियोगमें प्रणव भगवन्नामका उपलक्षण है। प्रणव सम्पूर्ण वेदोंका सार है।

अकारसे जाग्रदवस्था—विश्व; उकारसे स्वप्नावस्था-तैजस; मकारसे सुषुप्ति-अवस्था—प्राज्ञ और अमात्रसे—तुरीय प्रणव-में भरा हुआ है।

वेद अनन्त हैं। उनकी मुख्य चार संहिताएँ हैं। इन चारों संहिताओंकी उपनिषदें ११०० से अधिक हैं। कोई ११२१ मानते हैं तो कोई ११८७। इन सब उपनिषदोंका सार माण्डूक्योपनिषत् है और उसका सार प्रणव है। सब वेदोंके सार इसी प्रणवके रूपसे भगवान् विराजमान हैं।

ओमिति आत्मानं युञ्जीत।

अपना ध्यान करना हो तो ॐ का उच्चारण करके ध्यान कर।

अपने स्वरूपका विचार करना हो तो अकार, उकार, मकार द्वारा करें।

'ओमिति स्वीकारे' : ओम्का अर्थ है, ईश्वरकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना। जो कुछ होता है, संन्यासी सबको 'ओम्' कहता है। अर्थात् जो हो रहा है सो ठीक, जो होगा सो ठीक, जो हुआ सो हो ठीक!

एक महात्माको एक सेठने प्रतिदिन दूध पिलानेकी व्यवस्था की और इस कामके लिए नौकर नियुक्त कर दिया। नौकर प्रतिदिन शामको नमक-मिर्च डालकर मट्ठा ले जाता और महात्माको पिला आता। कुछ दिन बाद सेठने महात्मासे पूछा : आपको दूध पीनेको मिलता है?'

महात्माने कह दिया : 'हाँ।' लेकिन थोड़े दिनों बाद नौकरका अनिष्ट होने लगा। लोगोंको पता लगा तो चर्चा चली : 'यह संत-सेवा करता है तो रोग-मृत्यु, हानि आदि अनिष्ट इसके ऊपर एक साथ क्यों आये?'

वह रो-रोकर लोगोंको बतलाने लगा : 'मैंने महात्माको दूध-के स्थानपर छाछ पिलाया।'

प्रणवका तात्पर्य है, सबमें समता। एक 'प्रणवकल्प' नामका ग्रन्थ है। उसमें प्रणवके नौ भेद बतलाये गये हैं : अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, शक्ति, कला, अर्धमात्रा और अमात्र। प्रणव-का मालामन्त्र, प्रणव-कवच, प्रणवका व्यापक न्यास, प्रणव-पञ्जर-न्यास, ये सब पृथक्-पृथक् हैं। उस ग्रन्थमें प्रणव-रहस्य, प्रणव-हृदय आदि प्रणवविषयक सम्पूर्ण विद्या दी हुई है।

प्रणवका उच्चारण वैखरी वाणीसे, मध्यमासे, पश्यन्तीसे और

परा वाणीसे होता है। परा वाणी मूलाधारमें चैतन्यरूपा वाग्देवता है। लेकिन उपासना-पद्धतिके भेदसे मूलाधार या सहस्रारमें परमात्माकी प्राप्ति कही जाती है। अन्यथा परमात्मा तो जो सिरमें है, वही मूलाधारमें है। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण है। तुम कहीं भी निष्ठापूर्वक देखो।

प्रणवके अनुसन्धान द्वारा परमात्माका चिन्तन तो उत्तम अधिकारी ही कर सकता है। तब दूसरे लोग क्या करें ? इसीलिए भगवान् आगे कहते हैं :

शब्दः खे : तुम्हारे हृदयाकाशमें बिना आघात किये ही जो शब्द हो रहा है, वह मैं ही हूँ। वृत्तिरोधाद् विभाव्यते—अपने मनको एकाग्र करके हृदयकी ओर देखो तो तुम्हारे भीतर जो अनाहत ध्वनि हो रही है, वह 'मैं' ही हूँ।

साकारके भक्त रूपका ध्यान करते हैं तो निराकारके भक्त शब्दका ध्यान करते हैं। वाराणसी जिलेमें किनारामबाबा बड़े सिद्धपुरुष हुए हैं। उन्हींके नामपर 'अघोरपन्थ' चला है। उनके अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं। उनके यहाँ शब्दका ध्यान मणिपूरक चक्र (नाभि) में करना चाहिए, ऐसा माना जाता है।

संसारमें शब्द आघातजन्य होते हैं। वे आहत शब्द हैं। लेकिन बिना आघातके जो शब्द हो रहा है आकाशमें, उसे 'अनाहत' कहते हैं। वह कण्ठ, तालु आदिके आघातके बिना होता है। कर्तृत्व-पूर्वक प्रयत्नकर जो शब्द उत्पन्न किया जाता है, वह 'आहत' शब्द है और शान्त बैठनेपर जो शब्द भीतर सुन पड़ता है, वह है 'अनाहत' शब्द। उसी शब्दका ध्यान करते हैं। इस अनाहत नामका वर्णन 'हंसोपनिषत्', नारदोपनिषत्' आदिमें है। उस शब्दके रूपमें परमात्माका चिन्तन होता है।

संत कबीरसाहब, राधास्वामी आदि जो मध्यकालीन संतमत हुए, प्रायः वे सभी शब्दके उपासक हैं। उस अनाहत शब्दमें भी वंशीध्वनि, मृदंग आदिकी ध्वनि सुनायी पड़ती है। श्री राधास्वामी-मतमें आज्ञाचक्रसे ऊपर शब्दका ध्यान करते हैं। योगमतमें अनाहत-चक्र (हृदय) में शब्दका ध्यान करते हैं। किनाराम-मतमें नाभिचक्रमें शब्दका ध्यान होता है। परा वाणीके उपासक मूलाधारमें शब्दका ध्यान करते हैं। शब्द ध्यानका विषय है; किन्तु बाहर होनेवाला शब्द नहीं, भीतरके आकाशमें जो ध्वनि सुनायी पड़ती है, वह परमात्मा है : ध्येयः खेऽन्तराकाशे।

नैयायिक और वैशेषिक शब्दको आकाशका गुण मानते हैं। आकाश शब्दका आश्रय है। शब्द होता है तो उसमें गति होती है। यह शब्दका गमनागमन दिशाके अनुग्रहसे होता है। दिशाओंकी उपाधिसे बैठा चैतन्य दिग्देवता है। उनके अनुग्रहसे ही हमारे मुखसे निकला शब्द तुम्हारे कानोंतक पहुँचता है।

शब्द तन्मात्रा है और वह आकाशका कारण है—यह सांख्य और योग मानते हैं। पूर्वमीमांसा मानता है कि जीवके कर्मानुसार समष्टि-प्रारब्धसे शब्द, आकाशादि बनते हैं और व्यष्टि-प्रारब्धसे उनका भोग प्राप्त होता है। सगुणवादियोंका मत है कि ईश्वर इनका निर्माण करता है। वेदान्त-मत है कि ये कुछ बने-बनाये नहीं, प्रतीतिमात्र हैं। कान हैं, अतः शब्द सुनायी पड़ता है। कान न हों तो शब्द कैसे सुन पड़ेगा ? अतः शब्दमें केवल ऐन्द्रियकत्व है; लेकिन ऐन्द्रियकत्व होनेपर भी अधिष्ठानसे भिन्न न होनेके कारण शब्द परमात्मा है। ईश्वरोपादानक होनेसे भी शब्द ईश्वर-रूप है। अर्थाभिव्यञ्जक होनेसे शब्द ईश्वररूप है।

एक जैनमतानुयायी राजा था। उसके घर बड़े-बड़े मुनि आते

थे। उस राजाके राजकुमारपर महात्माओंका प्रभाव पड़ गया। उसने जैनमतकी दीक्षा ग्रहण कर ली। विरक्त होकर संग्रह-परिग्रह त्यागकर एकान्तमें रहने लगा। दीक्षाके समय गुरुने उसे यह व्रत दिला दिया कि प्रतिदिन 'दस आदमियोंका उद्धार (अर्थात् दस आदमियोंको जैनमतमें दीक्षित) करके भोजन करना।'

एक दिन वह भिक्षाको गया तो कोई स्त्री भिक्षा देने आयी। वह उसपर मोहित हो गया। वहीं उसकी सेवामें लग गया, लेकिन रोज दस आदमियोंको दीक्षित करता और दूसरे नियमोंका भी पालन करता। एक दिन उसने नौ आदमियोंको दीक्षा दे दी, पर दसवाँ कोई नहीं मिला। दसवाँ मिले बिना वह भोजन कैसे करे? देर होने लगी तो उन श्रीमतीजीने कहा: 'भूखे कबतक रहोगे? भोजन करो।'

उसने कहा: 'गुरुने नियम दिया है कि दस मनुष्योंका उद्धार करके ही भोजन करो। अभी नौ ही मिले हैं। जबतक दसवाँ नहीं मिलेगा, भोजन नहीं करूँगा।'

एक-दो दिन बीत गये, पर दसवाँ व्यक्ति नहीं मिला। स्त्री-ने कहा: 'दसवें तुम ही बन जाओ। अपना ही उद्धार कर लो।'

दशमस्त्वमसि—यह बात स्त्रीके कहते ही वह चौंका: 'मैं दसवाँ हूँ! मेरा उद्धार नहीं हुआ!' उसे अपनी स्थितिका ज्ञान हो गया। वह विरक्त होकर अपना उद्धार करने चला गया।

भक्तोंमें भगवन्नामको नामावतार मानते हैं। शब्दमें संसारसे पार उतारनेकी अचिन्त्य सामर्थ्य है।

'शब्दः खे': अर्थात् जोरसे बोलो। संकीर्तित शब्द भग-वन्नाम भगवदवतार है।

वेदान्तमें शब्दको लेकर दो मत हैं : भामती-प्रस्थान और विवरण-प्रस्थान। भामती-प्रस्थानके कर्ता श्री वाचस्पति मिश्र मानते हैं : 'शब्दसे परोक्षज्ञानकी उत्पत्ति होती है। जब आँख, नाक, जीभ या त्वचा द्वारा किसी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता, तब शब्द द्वारा परोक्षज्ञान कराया जाता है। शब्दद्वारा प्राप्त ज्ञानका खूब अभ्यास करो तो उसका संस्कार बैठ जाता है। संगीतका अभ्यास अच्छा होनेपर गायकके रागका पता लग जाता है। इसी प्रकार जब हम ब्रह्म-श्रवण करते हैं, तब उसका खूब अभ्यास करने-पर मनन-निदिध्यासनसे आहित संस्कारके साचिव्यमें अन्तः-करण महावाक्यार्थका साक्षात्कार कर लेता है। तात्पर्य यह कि परमात्माके साक्षात्कारमें मुख्य हेतु अन्तःकरण है। शब्द संस्कारा-धानमें हेतु है।'

श्री पद्मपादाचार्यकी 'पञ्चपादिका' की टीका 'विवरण'में श्री प्रकाशात्मयतिने दूसरा मत स्थापित किया है। उस विवरणको लेकर वेदान्तमतमें एक प्रस्थान ही चल पड़ा है। वे कहते हैं : 'कहीं भी अपरोक्ष साक्षात्कार तब होता है, जब प्रमाता अर्थात् अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य प्रमेयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होता है। अथवा विषय अत्यन्त अव्यवहित हो तो स्वविषयक संवित्को जन्म देता है, या इन्द्रिय और विषयसम्पृक्त हो जाय तो विषयका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। अन्यत्र अनुमेय पदार्थमें शब्द प्रमाण होता है। ये आत्मदेव न इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होते, न विषयके रूपमें आते और न कहीं अन्यत्र स्थित हैं। हमारे चित्तमें जो संवित् होती है, उसका वास्तविक उपादान ब्रह्म ही है। भले हो नेत्र-श्रोत्रादि किसी इन्द्रिय द्वारा उपाधिके कारण ज्ञान दृश्य बनता हो, वहाँ भी केवल भ्रान्ति-के कारण अभ्यासजन्य परिच्छिन्नताकी प्रतीति ज्ञानमें हो रही है।

जहाँ वस्तु पहलेसे ही अपरोक्ष रहती है, उसमें परोक्षता केवल भ्रान्तिमूलक ही होती है। ब्रह्म कभी, कहीं, किसीको परोक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वरूप और सर्ववृत्तिमें ब्रह्म ही है—सदा अपरोक्ष है। उसमें भ्रान्तिसे ही परोक्षता भासती है। इसीलिए धर्म, शम-दामादि साधन-सम्पत्ति आदि सब पाप-प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए हैं। संशय-विपर्ययकी निवृत्तिके मनन-निदिध्यासन हैं। अपरोक्ष साक्षात्कार तो शब्दसे ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यसे होता है।' नियम यह है कि यदि विषय नित्यपरोक्ष हो, स्वर्गादिके समान अथवा नित्य अपरोक्ष होकर भी अज्ञात हो आत्माकी ब्रह्मताके समान, तो केवल शब्दसे ही ज्ञान होता है। परोक्ष विषयका परोक्षज्ञान और अपरोक्ष विषयका अपरोक्ष ज्ञान। विषय ही परोक्ष या अपरोक्ष होता है, ज्ञान तो सर्वदा साक्षात् अपरोक्ष ही रहता है।

शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान कैसे होता है? वह अपरोक्ष ज्ञान करानेवाला शब्द कौन है? भगवान् कहते हैं: 'वह मैं हूँ।'

भले ही शब्द अन्यके विषयमें परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करे; पर अपने विषयमें तो अपरोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न करता है। धर्म और ब्रह्मका ज्ञान शब्दसे होगा। भगवान्‌का भजन और ध्यान किया जायगा शब्दसे। शब्दके रूपमें भगवान् न आते तो वाचकका अभाव होनेपर वाच्यका ही अभाव हो जाता। अतः करुणा-वरुणालय भगवान्‌का साक्षात् रूप शब्द है।

पौरुषं नृषु। भगवान् रस हैं, अतः प्रेय हैं। प्रभा या ज्ञान हैं, अतः प्रकाशक हैं। प्रणव हैं, अतः अपनी प्राप्तिके साधन हैं। शब्द हैं, अतः ज्ञानजनक हैं। लेकिन उन्हें इन रूपोंमें उन्हें पानेके लिए

साधकमें पौरुष चाहिए। पौरुषके बिना पुरुष ही क्या ? लोग कहते हैं :

उमा दारु-योषित की नाईं।
सबहिं नचावत राम-गुसाईं ॥

लेकिन नचानेवालेने नाचने-योग्य न बनाया होता तो कोई नाचता ही कैसे ? वही बनाता है और वही नचाता है। साधनकी शक्ति भी वही है। यही बात भगवान् बतलाते हैं : 'पौरुषं नृषु।'

नृषु' अर्थात् नरत्वसामान्य; क्योंकि नर-मादाका भेद तो पशु-पक्षी ही नहीं, पौधोंमें भी होता है। नरत्व-सामान्यमें—मनुष्योंमें पौरुष भगवान् हैं।

'पुरुषस्य कर्म पौरुषं, वा पुरुषस्य भावः पौरुषम्' : पौरुष वह शक्ति है, जिसके रहनेपर पुरुष 'पुरुष' है। मनुष्य 'मनुष्य' कब है ? जब उसमें कर्म है और भावना है। भावना और कर्म दोनों चले गये, तो कोई फल उत्पन्न होनेवाला नहीं। जब जीवनमें क्रिया और भावना दोनों होती हैं, तभी फलकी उत्पत्ति होती है। जिसमें भावना नहीं, वह तो पत्थर है।

जो संसारकी छोटी-छोटी वस्तुओंको बड़े काममें लगाये, उसे 'नर' कहते हैं। 'णीञ् प्रापणे, नयति इति नरः।' नर-शब्द एकवचन और बहुवचन भी होता है। यह संसार जिसके लिए बना है, उसके पास पहुँचाना मनुष्यका काम है। समग्र वस्तुओंका ईश्वरकी, समष्टिकी सेवामें लगा देना मनुष्यका काम है।

'पूर्णत्वात् पुरुषः'—जो पूर्ण हो वही पुरुष है। 'पुरि शयनात् पुरुषः'—जो हृदयमें शयन करे, वह पुरुष है। 'पुरूणि स्यतीति पुरुषः'—जो बहुत्वको मिटा दे, उसका नाम पुरुष है।

अपने जीवनमें पूर्णता प्राप्त करना पुरुषत्व या पौरुष है। कड़वेको मीठा बनाना, गिरेको उठाना पौरुष है। मीठेको कड़वा करना पौरुष नहीं। दिलमें स्वाद बना रहे, यह पौरुष है। दिल बिगड़ जाय, यह पौरुष नहीं। अपनी प्राप्तव्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो प्रयत्न-सामर्थ्य प्राप्त है, वह पौरुष है। वह सामर्थ्य भगवान्ने दी है। संसारमें उथल-पुथल करने, परिवर्तन करनेकी जो आपमें शक्ति है, वही पौरुष ईश्वर है।

एकबार मैंने स्वामी योगानन्दजीको पत्र लिखा : 'मैं जप-साधन करते-करते थक गया। मेरे किये कुछ नहीं होता।'

उन्होंने उत्तर दिया : "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'। नपुंसक मत बनो। यह उत्थानकी शक्ति मनुष्यमें भगवान् है।" इस मनुष्य-शरीरमें तो परमात्मा प्रकट है।

७. सर्वत्र भगवद्दर्शन

संगति :

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको वह दृष्टि दे रहे हैं, जिससे सर्वत्र परमात्माका दर्शन हो।

इसके लिए पौरुषकी जरूरत पड़ती है। यदि मनुष्य किसी भी चीजके लिए पौरुष न करता—धन, भोग और धर्मके लिए पौरुष न करता और तब कहता कि 'परमात्माके लिए पौरुषकी जरूरत नहीं, वह कृपाकर मिल जायगा', तो बात बन सकती थी। पर वह अर्थ और भोगके लिए तो पौरुष करता है, रोग-निवारणके लिए प्रयास करता है, फिर भी ईश्वर-प्राप्तिका अवसर आने पर कहता है कि 'वह कृपा करके स्वयं मिलेगा' तो यह उसके मनमें ईश्वर-प्राप्तिके प्रति अरुचिका ही सूचक है। अन्यथा—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

जबतक शरीर मृत्युमुखमें न जाय, उससे पहले ही ईश्वर-प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिए।

भगवान् कहते हैं : 'हमें ढूंढ़ने दूर जाना आवश्यक नहीं। तुम जो जल पीते हो, जिससे स्नान करते हो, उसीमें मैं बैठा हूँ। जो सूर्य-चन्द्र देखते हो, उसमें भी प्रभारूपमें मैं हूँ। जो प्रणव बोलते हो, वह मैं हूँ। आकाशमें जो शब्द होता है, वह भी मैं हूँ।'

एक माताने मुझे बतलाया। 'एक महात्मा वृन्दावनमें रहते थे। उन्होंने अपने भक्तोंके लिए एक-एक उपदेश लिख दिया। उन महात्माने मेरेलिए यह दोहा लिख दिया :

संत दरसको जाइये, संग न लीजै कोय।
पाँवनमें सिर दीजिये, चाहे जो कुछ होय॥

महात्माकी बात ठीक है। संत-दर्शनके लिए अकेले जाना चाहिए; क्योंकि तुम्हारे कल्याणकी बात तो तुमसे ही कहनी होगी। सम्भव है, वह दूसरोंके सामने न कही जाय। दूसरे उसके अधिकारी न हों।

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो उपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि॥

संतोंकी सेवा करनी चाहिए, चाहे वे बहुत उपदेश न देते हों; क्योंकि वे जो मनमौजी बातें करते हैं, उन्हींसे शास्त्र बन जाते हैं।

हम लोग एक महात्माके दर्शन करने जाते थे। एकने उनके यहाँ धरना दे दिया : 'हमें ईश्वरका दर्शन करा दो।'

वह भूखा रहने लगा। एक-दो दिन बीते, तो महात्मा गाली देने लगे। फिर डंडा उठाया और बोले : 'ईश्वर जितना दर्शन दे रहा है, उसकी तूने क्या सेवा की कि एक और रूपमें वह तुझे दर्शन दे? सूर्यके रूपमें ईश्वर दीख रहा है। ब्राह्मण-साधुके रूपमें ईश्वर दीख रहा है। गंगाके रूपमें ईश्वर दीख रहा है। क्या तुमने उनकी सेवा की है? क्या उसे निहाल कर दिया?'

अपने इसी सर्व-सुलभ रूपका वर्णन भगवान् करते हैं :

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें मैं पवित्र गन्ध हूँ। अग्निमें तेज हूँ। सब प्राणियोंमें मैं जीवन हूँ। तपस्वियोंमें मैं तपस्या हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्। पृथ्वीमें भगवान् गन्ध हैं। 'घ्राण-ग्राह्यो गुणो गन्धः', 'गन्धवती पृथिवी'—नासिकासे ग्रहण होने-वाला गुण गन्ध है, इस गन्धका आश्रयभूत पृथिवी है। भगवान् पृथिवीके लक्षण बनकर उसमें व्याप्त हैं।

गन्धतन्मात्रा पृथ्वीका कारण है। गन्धसे पृथ्वी पैदा हुई। पृथ्वीमें गन्ध अनुस्यूत है। अतः गन्धके अतिरिक्त पृथ्वी नहीं है। जैसे तिलमें तेल, दूधमें घी है, वैसे ही पृथ्वीमें गन्धरूपसे भगवान् व्याप्त हैं। भगवान् गन्ध बनकर पृथ्वीको धारण करते हैं : 'गां धत्ते इति गन्धः'। पृथ्वी, भूदेवी भगवान्‌की पत्नी हैं। उन प्रियतमाके अंग-अंगमें गन्ध बनकर भगवान् लगे हैं। भगवान् नारायणकी तीन पत्नियाँ हैं : श्रीदेवी, भूदेवी और लीलादेवी। पृथ्वीको हिरण्याक्ष पाताल ले गया था। भगवान्‌ने वाराहरूप धारणकर उनका दैत्य-से उद्धार किया और उनसे विवाह कर लिया।

कई लोग गन्धकी साधना करते हैं। नासिकाग्रपर त्राटक करनेपर गन्ध-संवित्, रस-संवित्, रूपसंवित् और शब्द-संवित् ये चार प्रकारकी सिद्धियाँ प्रारम्भमें उदित होती हैं। ऐसा लगता है कि गन्ध ही गन्ध है। तब पृथ्वी और पार्थिव पदार्थका चिन्तन छोड़ दिया जाता है। अर्थात् भवन, देहादि सब रूप-आकार छूट जाते; केवल गन्धकी संवित् रहती है। तब गन्ध-तन्मात्रासे तादात्म्य होता

है। साधकको लगना है: 'मैं ही गन्ध हूँ। लगता है: 'सृष्टिमें जितनी वस्तुएँ मिट्टीसे बनी व्यवहारकालमें भासती हैं, सब मैं हूँ।'

इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि धारणाओं-का विस्तारसे वर्णन है। गन्ध-संवित्में ठीक स्थिति होनेपर मनुष्य जो चाहे, वह गन्ध प्रकट कर सकता है। काशीमें गन्धोबाबा (स्वामी विशुद्धानन्दजी) थे, जो गन्ध कहें, वे प्रकट कर देते थे।

जहाँ-जहाँ गन्ध आये, वहाँ-वहाँ आप भगवान्की भावना करें; क्योंकि किसी भी मूल्यपर मनुष्यके भावका निर्माण परम-श्रेष्ठ वस्तु है। बाहरकी सब वस्तुएँ चली जायँ और भाव बन जाय, तो वह परम कल्याणकारी है। यज्ञ-पूजन कर, तीर्थयात्रा कर भाव ही बनाया जाता है।

'पुण्यो गन्धः पृथिव्याम्' : गन्ध तो पृथ्वीमें सर्वत्र है; किन्तु जिस गन्धसे चित्त पवित्र हो, वह गन्ध भगवान् है। जैसे तुलसीकी गन्ध। वैष्णवाचार्य यही व्याख्या करते हैं:

पुण्यो गन्धः तुलस्या गन्धः।

तुलसी भगवत्प्रिया हैं। पदार्थसे तुलसीकी गन्ध आनेपर याद आ जाती है कि 'यह भगवत्प्रसाद है।

'पुनातीति पुण्यः' जो पवित्र करे, वह पुण्य है। 'पुण् कर्मणि शुभे'। पुण्यमस्यास्ति इति पुण्यः'—जो शुभ हो वह पुण्य है। यज्ञ-यागादिसे उठनेवाली गन्ध, मन्दिरसे आती सुगन्ध भगवान् हैं।

'पुण्य'शब्दका अर्थ है, पृथ्वीकी सहज-स्वाभाविक गन्ध, सुगन्ध। दुर्गन्ध पृथ्वीकी स्वाभाविक गन्ध नहीं, उष्णताके संयोग-से आती है। पृथ्वीमें गन्ध पृथ्वीका स्वरूप है। द्रवता जलसे आती

है। दुर्गन्ध उष्णतासे आती है। गति, सूर्यकी परिक्रमा करना वायुसे आती है। प्राणियोंको धारण करनेकी शक्ति आकाशसे आती है।

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके अन्तर्गत जो पृथ्वी है, उसमें सम्मिलित गन्ध नहीं, विविक्त गन्ध पुण्यगन्ध है। अर्थात् विवेकसे आकाश, वायु, अग्नि और जलके गुण अलग-अलग कर दें। पृथ्वीका जो सहज गुण है, वह पुण्यगन्ध है और वह भगवान् हैं।

श्री रामानुजाचार्यजी कहते हैं: 'भगवद्भोग्यत्वकी अपेक्षा उसमें पुण्यत्व है; क्योंकि भूदेवी भगवान्की भोग्या धर्मपत्नी हैं।

भगवान्को अर्घ देते समय जलमें कपूर मिला देते हैं। यह कपूरकी गन्ध जो भगवत्सेवामें आती है, पवित्र गन्ध है। गन्ध भगवान्का शरीर नियम्य, भोग्य है। अतः गन्धरूपमें भगवान् हैं।

भगवान्को तुलसी चढ़ाओगे, चन्दन लगाओगे, धूप जलाओगे तो सबमें गन्ध है। इस प्रकार पृथ्वीको गन्धरूपमें भगवान्ने सर्वाङ्गमें धारण कर लिया है।

तेजश्चास्मि विभावसौ। विभावसु शब्द सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके लिए आता है।

वि = विशिष्ट, भा = कान्ति, वसु = धन। 'विभैव वसुर्यस्य असौ विभावसुः = प्रकाशधनः। 'वसु तोये धने मणौ।' अर्थात् विशिष्ट प्रकाश ही जिसका धन है, वह विभावसु है।

'तेजः = शोधकः' : जो शुद्ध करे उसे तेजस् कहते हैं। अग्निमें पवित्र करनेकी सामर्थ्य है। श्री जानकीजीकी शुद्धिका प्रश्न आया तो कहा गया है:

> स्वभावपरिपूतायाः किमन्यैः साधनान्तरैः।
> तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥

श्री जानकी तो स्वभावसे ही पवित्र हैं, उनकी शुद्धिकी क्या जरूरत है? तीर्थोदक और अग्नि दूसरे किसी साधनसे शुद्ध करनेकी अपेक्षा नहीं करते। नादत्ते मलमग्निवत्। जो कभी मल-ग्रहण न करे, उसीको अग्नि कहते हैं। वह मलको भस्म कर देता है।

अग्नि तेजस् तन्मात्र है। तेजसे प्रकट हुआ, तेजमें स्थित है, तेजमें लीन होता है। तेजके सिवा अग्निका कोई स्वरूप ही नहीं। उस तेजका ध्यान करते हैं: तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। तुम तेजस्वरूप हो, हममें तेजका आधान करो। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। अग्नि ज्योति है और ज्योति अग्नि है।

ईशावास्योपनिषत्में आया है: अग्ने नय सुपथा राये। यही जीवात्माको ऊर्ध्वंगतिमें ले जानेवाला है: 'अग्रे नयतीति अग्निः' 'वहतीति वह्निः।' इसमें तेजके रूपमें भगवान् बैठे हैं।

अग्निमीळे पुरोहितम्।

'हमारे आगे हित करते चलनेवाले अग्निकी हम स्तुति करते हैं।' पुण्यलोकमें यही ले जाता है। आचार्य कुमारिलभट्ट कहते हैं: 'अपौरुषेय वेदवाणीके बिना यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि अग्नि पुरोहित है।'

इस अग्निमें जो तेज है, वही नेत्रका, सूर्य-चन्द्रका भी कारण है। बुद्धिमें भी वही प्रदीप्त होता है। भगवान्ने कहा है:

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

—गीता १०

संसारमें जितनी-जितनी विभूतियाँ हैं, जहाँ-जहाँ श्री है, ऊर्जा है, वहाँ-वहाँ भगवान्का ही तेज है।

अग्निर्वर्चः ज्योतिवर्चः स्वाहा। यह और ऐसे ही जो मन्त्र वेदोंमें आते है, सब परमात्माके ही वाचक हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि सब वेद परमात्माका ही वर्णन करते हैं:

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।

सब वेद परमात्माका वर्णन कैसे करते हैं?

क्वचिदजयाऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।

कहीं भगवान् मायासे खेल करते हैं, तो वेद उसका वर्णन करते हैं और कहीं भगवान् अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं, तो वेद उसका भी वर्णन करते हैं।

वेद तो अग्नि, यम-वायु, इन्द्रादिका भी वर्णन करते हैं?

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यव शेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥

—भागवत १०. ८७. १५

अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि कोई भी नाम हो, ये सब नाम उसी परमात्माके हैं।

तेजश्चास्मि विभावसौ। अग्निकी दाहिका शक्तिको तेज कहते हैं। 'पुण्यो गन्धः' से पृथ्वी, 'रसोऽहमप्सु' से जल, 'तेजश्चास्मि' से अग्नि, 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः' से रूप 'शब्दः खे' से आकाश आ गया; किन्तु वायुकी गणना भगवान्ने नहीं की इसपर श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है: 'तेजचास्मि विभावसौ में जो 'च' है, उससे यह अर्थ करना चाहिए कि 'मैं विभावसुमें तेज हूँ और वायुमें तेज हूँ।'

प्रश्न होगा कि वायुमें तेज कहनेका क्या तात्पर्य है ? वायुमें तो स्पर्श कहना चाहिए था।

केनोपनिषद्में कथा आती है कि जब देवताओंने दैत्योंपर विजय प्राप्त की, तो उन्हें बहुत अभिमान हो गया। उस समय देवताओंके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ। प्रश्न उठा कि यह कौन है ? अग्नि और वायुको क्रमशः पता लगाने भेजा गया। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि यक्षने वायु तथा अग्निके भी सामने एक तृण रख दिया। दोनों ही उसे उड़ाने या जलानेमें विफल हो गये।

अग्निमें जो जलानेकी सामर्थ्य है, वह अग्निदेवताकी नहीं, परमात्माकी है। वायुमें जो उड़ानेकी सामर्थ्य है, वह वायु-देवताका नहीं, परमात्माकी है। अतः 'तेजश्चास्मि विभावसौ' में 'च' से वायुका ग्रहण कर लेना चाहिए।

इस प्रकार पञ्चभूतोंमें जो सामर्थ्य है, वह सारी भगवान्‌की ही है :

करी गोपालकी सब होय,
जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति मूरख है सोय ॥

जीवनं सर्वभूतेषु। सम्पूर्ण प्राणियोंमें जो जीवनशक्ति हिलोरे ले रही है, वह भगवान् ही हैं। हमारे शरीरमें जितनी क्रियाएँ हो रही हैं, सबके पास ईश्वर बैठा है।

श्री आनन्दमयी माँ-से किसीने पूछा : 'नीबूमें रस क्या है ?'

माँने कहा : 'पिताजी ! वही है नीबूमें रस, पत्ते-पत्तेमें हरियाली।'

'जीवनंसर्वं भूतेषु' : भूतका अर्थ है विशेष नाम-रूपवाला।

'नाम रूपं च कर्म च'—भूतमें ब्रह्मासे चींटीतक सब हैं। जिसके साथ पिछले कर्म-संस्कार लगे हैं, वह भूत है। उन सबमें जीवन भगवान् हैं।

भगवान् श्री शंकराचार्य और श्री स्वामी शंकरानन्दजीका यहाँ यह अभिप्राय है कि 'सर्वभूतोंका शरीर अन्नरससे ही बनता, बढ़ता और पोषण पाता है। अन्नरस न रहनेपर सब सूख जाते हैं। अतः सब भूतोंमें जीवन अर्थात् अन्नरसके रूपमें भगवान् हैं।'

किसीने जीवनका अर्थ प्राण-श्वास चलना किया है। किसीने केवल मिट्टी-पानीके सम्बन्धसे जीवन माना है। किसीने केवल वायुके सम्बन्धसे जीवन माना है। किसीने गर्मीके सम्बन्धसे जीवन माना है। लेकिन किसी सम्बन्धसे मानो, पर जीवनके रूपमें है परमात्मा।

कइयोंने 'जीवन' शब्दका अर्थ आयु किया है। वे कहते हैं: 'प्रत्येक वस्तुमें उसकी आयुके रूपमें परमेश्वर रहता है। सबका वास्तविक जीवन वह परमात्मा ही है।

तपश्चास्मि तपस्विषु। तपस्वियोंमें तपस्याके रूपमें भगवान् हीं हैं।

अबतक भगवान्ने इस ढंगसे निरूपण किया है कि प्राणियोंके जीवनके रूपमें—शरीर, मन, प्राण सबमें वे अनुस्यूत हैं। रसोऽहमप्सु से लेकर जीवनं सर्वभूतेषु तक यह क्रम ठीक-ठीक चलता रहा। अब यह जो 'तपचास्मि' कहा, वह उस क्रमसे पृथक् है; क्योंकि तप मनुष्य करता है, दूसरे प्राणी नहीं। मनुष्योंमें भी किसीके जीवनमें तप होता है, किसीके नहीं।

भगवान् अबतक अपनेको वही बतला रहे थे—जो प्रत्येक कार्यके कारणरूप हो। जैसे : जलका कारण रस। किन्तु इस प्रकार देखें तो यहाँ तपस्वीका कारण तो तप नहीं है। जैसे जल रससे उत्पन्न होता है, रसमें स्थित है और रसमें लीन होता है, वैसे तपस्वी तपसे उत्पन्न, तपमें स्थित और तपमें लीन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि तप तपस्वीका किया हुआ कार्य है। अतः यहाँ 'तप' शब्दके अर्थपर विचार करना होगा।

महापुरुषोंने इसकी संगति ऐसे भी बैठायी है कि 'तपस्वी' संज्ञा तो तप करनेपर हुई और जबतक उसमें तप है, तभीतक वह तपस्वी है। तपस्वी मरेगा तो तपमें ही लीन होगा। अतः तपस्वीका जीवन भी तपोरूप ही है।'

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे : 'कलियुगमें सबसे अधिक ह्रास तपका ही हुआ है।'

आज मनुष्य चाहता है कि हमें रोटी बनानेका कष्ट न हो और भोजन मिल जाय। आटा पीसना न पड़े और खानेको रोटी मिले। यदि मनुष्य खेती करता, आटा पीसता, रोटी बनाता और खाता तब तो रोटीका अन्न उसके शरीरमें ठीक-ठीक पच जाता और रोग न होता। वह शरीरके लिए जरूरी परिश्रम-तप किये बिना ही खाता है तो अन्न उसके शरीरमें जाकर रोग बन जाता है।

'तप' का अर्थ है : शरीरको थोड़ा कष्ट देना। आज व्रत, सन्ध्या, सर्दीमें स्नान सब छूट गया तो सहन-शक्ति कैसे आये? तपस्याका ह्रास होनेसे उसके फलस्वरूप जीवनमें जो स्वास्थ्य, स्वच्छता, सहनशीलता, सुखकी प्राप्ति होती थी, वह नहीं होती।

जगत्के मूलमें भगवान्का तप है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है : 'ब्रह्मा तपसे सृष्टि बनाते हैं, विष्णु तपसे सृष्टि-रक्षा करते हैं

और शिव तपस्यासे सृष्टिका संहार करते हैं। तपस्यासे ही सूर्य तपता है, तपसे ही वायु चलता है और तपसे ही इन्द्रदेव शासन करते हैं।

भगवान्‌ने कहा :

तपो मे हृदयं साक्षात्।

ब्रह्माजीको अपने उद्‌गमका पता ही नहीं लगता था। उन्हें शब्द सुनायी पड़ा :

स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशम्।

अर्थात् 'तप-तप'। उसी तपसे ध्यान करनेपर अपने हृदयमें उन्हें परमात्माका दर्शन हुआ।

ब्रह्मा, विष्णु शिव और इन्द्रको तपस्यापर ध्यान दें तो उसी तपस्यासे यह सारा प्रपञ्च स्थित है। इन सब तपस्वियोंमें तपके रूपमें भगवान् ही हैं।

आप चलोगे नहीं तो पहुँचोगे कहाँ? चलना तप है और पहुँचना है फल। जैसे भोजनसे शरीरमें शक्ति आती है, वैसे ही तपसे आत्मबल मिलता है। जो कष्ट नहीं सह सकता, वह कुछ भी नहीं पा सकता।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे : 'सिद्धि क्या है? सहन करनेकी शक्ति। तुम भूख सहो तो अन्नपूर्णा सिद्ध होकर रोटी देगी।'

भगवान्‌ने भी तपकी व्याख्या की है। गीतामें सात्त्विक राजस, तामस तप बतलाये गये हैं। उस सात्त्विक तपमें भी वाणीका तप, मनका और शरीरका तप बतलाया है। अपने हृदयको शुद्ध करो, स्वच्छ करो—यह तप ही है। तप स्वयं भगवान् हैं।

८. भगवान् ही सर्वसार

संगति :

कभी ऐसी स्थिति आये, जब पृथ्वी ही न हो, तब भी भगवान्का 'मैं' रहेगा। जब जल न हो, अग्नि न हो, आकाश न हो, तब भी भगवान्का 'मैं' रहेगा। जब सर्वभूतोंका जीवन न हो, तब भी भगवान्का 'मैं' रहेगा। ये सब तो अनित्य हैं, पर भगवान् नित्य हैं।

अनेकमें जब एक होता है तो अनेकमेंसे किसी एकके टूटने-फूटने-पर वह नष्ट नहीं होता। सब गहनोंमें सोना है तो किसी गहनेके टूटने-फूटनेपर सोना नष्ट नहीं होता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी तरह सारी सृष्टिमें भगवान् हैं और सृष्टिके नष्ट होनेपर भी वे ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

वे ही भगवान् बतला रहे हैं कि 'जितनी भी वस्तुएँ हैं, मैं सबका सार हूँ।'

यदि सारपर दृष्टि चली जाय तो सच्चा तत्त्वज्ञान, सच्चा आनन्द मिल जायगा। नहीं तो केवल आडम्बरमें फँसना है।

साररूप भगवान्से ही यह विश्व प्रकट हुआ, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लीन होता है। अतः सर्वत्र भगवान्को ढूंढ़ निकालना बुद्धिमान् मनुष्यका परम कर्तव्य है।

गीताके दसवें अध्यायमें जिन मुख्य-मुख्य वस्तुओंके रूपमें भगवान्का वर्णन है, वे सब विभूतियाँ हैं। उन-उन विभूतियोंमें भगवान्की विशेष भावना करनी चाहिए। वहाँ भगवान्का वर्णन उपासनाके अंगरूपमें है। अतएव वहाँ कहा है :

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

विभूतिका ज्ञान 'अविकम्पयोग'का साधन है। यहाँ 'परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है'—यह जो तत्त्ववेत्ताकी दृष्टि है, उसीका वर्णन किया गया है।

भक्तोंको भगवान्का संयोग प्राप्त होनेपर जो रस आता है, वह रस भगवान् हैं। भगवान्ने ही वह रसरूप धारण किया है। भक्तोंको जो भगवान्के रूपका दर्शन होता है, वह नेत्रों और मनद्वारा—शशि-सूर्य द्वारा—होता है। वे शशि-सूर्य भी भगवान् हैं। भगवान्के जो मधुर-मधुर नाम हैं, वे सभी प्रणवात्मा भगवान् ही हैं।

'शब्दः खे' का वैष्णवोंने अर्थ किया है कि भगवान् जब आनन्दमें भरकर वंशीवादन करते हैं, तो वह वंशीध्वनि पूरे आकाशमें व्याप्त हो जाती है : जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्।

मनुष्यके मनमें जो भगवत्प्राप्तिका प्रयत्न या साधन है, वह पौरुष भगवान् ही हैं। वे ही भगवान् तुलसी, चन्दन, धूप आदिमें गन्धके रूपसे आते हैं। वे ही अग्निमें तेज बनकर आते हैं। भगवान्के वियोगमें हृदयमें जो ताप होता है, वह वियोगाग्नि भी भगवान् ही हैं। भगवत्प्राप्तिके लिए जो अपेक्षित साधन तप हैं, वह भी भगवान् ही देते हैं।

अब आगे भगवान् अपनी पहचान बतलाते हैं; जिससे उनका

नया रूप देख कोई भटक न जाय। जब प्रह्लादकी रक्षाके लिए भगवान्ने नृसिंहरूप धारण किया तो लक्ष्मीजीको भी शंका हो गयी : सा नोपेयाय शङ्किता। उन्हें सन्देह हो गया कि 'ये मेरे स्वामी ही हैं या कोई और हैं?' इस तरह जब लक्ष्मीजी भी भगवान्को पहचाननेमें कभी-कभी सन्दिग्ध हो जाती हैं, तो साधारण जीवकी बात ही क्या? अतः भगवान् अपनी पहचान बतलाते हैं।

वस्तुतः ऐसा कोई देश, कोई काल या कोई वस्तु नहीं, जहाँ भगवान् न हो। लेकिन जब हम उन्हें बिना पहचाने उनके साथ लिपट जाते हैं, तो दोष आ जाता है। सर्वत्र सबके रूपमें ईश्वर होते हुए भी जब जीव उन्हें पहचाने बिना संसारके रूपमें समझ किन्हीं रूपोंमें आसक्ति कर लेता है—वहाँ फँस जाता है तो वह उसकी भ्रष्टता है।

जबतक भगवान्को पहचानकर उनसे नहीं मिलोगे, तबतक जिससे मिलोगे, जिससे प्रेम करोगे, उससे वियोग होगा—दुःख होगा। अतः पहचानना आवश्यक है। भगवान् बार-बार अपनी पहचान बतलाते हैं :

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

पार्थ! सब भूतोंका सनातन बीज मुझे जानो। बुद्धिमानोंमें मैं बुद्धि हूँ। तेजस्वियोंमें मैं तेज हूँ। भरतश्रेष्ठ! बलवानोंमें कामरागविवर्जित बल मैं हूँ, प्राणियोंमें मैं धर्मके अविरुद्ध काम हूँ।'

पार्थ। पार्थं अर्थात् ईश्वरको चाहनेवाला। 'पाति इति पः=परमेश्वरः, स एव अर्थः प्रयोजनं यस्य स पार्थः।' अर्थात् जिसके जीवनका एकमात्र प्रयोजन है परमेश्वरको पाना। अथवा पृथा कुन्तीका पुत्र।

यद्यपि नकुल-सहदेव माद्रिके पुत्र हैं, फिर भी उन्हें 'पार्थ' कहा जाता है; क्योंकि उनके जन्मका निमित्त कुन्ती ही है। दुर्वासाजीने कुन्तीको मन्त्र दिया। कुन्तीने माद्रीके लिए भी देवताओंका आवाहन किया था। कुन्तीके बुलाये देवता अश्विनीकुमारोंकी कृपासे ही माद्रीके सन्तान हुई। इसीलिए माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव भी 'पार्थ' कहे जाते हैं।

माता वही नहीं जिसके पेटसे बच्चा हुआ और पिता भी वही नहीं जिसके वीर्यसे सन्तान हुई। असली पिता वह है, जिसने हमें पैदा करके कभी नहीं छोड़ा। असली माता वह है, जिसने उत्पन्न करके छोड़ा नहीं। इसीलिए एक ही ऐसा है जो हमारी माँ है और बाप भी। आप प्रतिदिन प्रार्थना करते ही हैं : त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

बीजं मां सर्वभूतानाम्। संसारमें जो बीज देखनेमें आते हैं, वे नष्ट होकर अपने कार्यको उत्पन्न करते हैं। चना, गेहूँ, आम आदिको जब बो देते हैं तो वह बीज मिट जाता और उससे पौधा निकल आता है। पौधा मिट जायगा, तो उससे बीज निकल आयेंगे। बीजसे पौधा, पौधेसे बीजका क्रम चलता रहता है।

व्यक्तिशः बीज नाशवान् होता है। वैसे बीज सदा रहता है। जब चनेका बीज नष्ट होकर पौधा बन जाता है और उसमें फल नहीं लगता तब भी पौधेके तने, पत्ते, डालियों, फूलके रूपमें चने-

का बीज विद्यमान रहता है। बीज न हो तो फल कैसे लगे? इसका तात्पर्य यह कि चनेका आकार चनेका बीज नहीं। चनेमें जो प्ररोहण-सामर्थ्य है, वही चनेका बीज है।

श्रीधरस्वामीने लिखा है : 'छोटी वस्तुमें जो विस्तारकी सामर्थ्य है, वह बीज है।'

उद्भिजमें अपने विस्तारकी सामर्थ्य है कि वटके नन्हें बीजसे इतना बड़ा वट-वृक्ष बन जाता है। चरमें—हमारे शरीरमें जो पसीना आता है, उसमें भी बीज है, जिससे खटमल उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अण्डोंमें पक्षी पैदा करनेकी सामर्थ्य है, जरा-युजोंमें घोड़ा-हाथी, गाय आदि पशु और द्विपाद मनुष्य—ये 'आकर चार' हैं। इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

आजके प्राणि-विज्ञानने जो प्राणियोंकी खोज की है, उसमें लगभग अस्सी लाख प्राणी निर्धारित किये हैं। शेष चार लाख भी सम्भव है, आगे मिल जायँ; क्योंकि अनेक कीटाणु इतने सूक्ष्म हैं कि यन्त्रसे भी नहीं दीखते।

उद्भिज : जो ऊपरको निकलते हैं। स्वेदज ; जो पसीनेसे पैदा होते हैं। जैसे : जूंए, खटमल आदि। अंडज : जो अंडेसे निक-लते हैं। जरायुज : जो जरायुसे घिरे पैदा होते हैं। जरायुजमें ही चतुष्पाद और द्विपाद हैं। इन चार वर्गोंके अनेकानेक भेद हैं। जैसे : उद्भिजमें वृक्ष, गुल्म, लता, क्षुप, तृण आदि। इनमें भी वृक्षों, लताओंकी सैकड़ों जातियाँ हैं। एकमें भी अनेक भेद हैं। आम, गुलाब और चनेकी कितनी ही जातियाँ हैं। ये सब जातियाँ, उनके नाम, उनके गुण, स्वभाव अलग-अलग हैं।

इन सबमें उनके संस्कारको ग्रहण करके रहनेवाले बीज एक तो अणुरूप हैं, दूसरे प्रकृतिरूप हैं। अणुरूप बीज व्यक्तिशः बीज

हैं। प्रकृतिरूप बीज समष्टिके बीज हैं। इनमें जो ईश्वर-चैतन्य है, वही सबका आधार है।

'ज्ञानदाह्य-बीजाभावे तु' : यदि ज्ञानसे जल जानेवाला कोई बीज न हो तो क्या होगा? फिर तो सब वेदान्तशास्त्र व्यर्थ हो जायँगे और किसीको मोक्ष ही नहीं मिलेगा। अतः विशेष-विशेष कर्मसंस्कार एवं भोगसंस्कारसे युक्त सत्तको 'बीज' कहते हैं। समष्टि भोगके संस्कारसे संस्कृत सत्ताको 'प्रकृति' कहते हैं।

'बीजं मां सर्वभूतानाम्' : यदि ईश्वर चेतनरूपसे बीज हो तो साक्षी नहीं हो सकता। यदि वह साक्षी हो तो बीजका, बीजत्वका भी साक्षी होगा और वह बीजसे न्यारा होगा। यदि वह बीज ही है तो जैसे चना-जवका पौधा होनेपर बीज नहीं रहता, वैसे ही संसार बननेपर ईश्वर नहीं रहेगा। और संसारके ईश्वर बननेपर ईश्वर रहेगा, संसार नहीं। यदि संसार भी है और ईश्वर भी है तो ईश्वर चेतन रूपसे संसारसे न्यारा है। न्यारा है तो यह बीज-पना कहाँ गया?

यदि कर्म-संस्कारसे बीज मानते हैं तो चेतनमें कर्मसंस्कार लिप्त नहीं होते। कोई अविद्यासे बीजत्व मानते हैं, तो चेतनमें अविद्या कहाँसे आयी? मायासे कोई बीजत्व मानते हैं, तो चेतनमें कोई परिवर्तन हुए बिना ही वह सबका कारण हो जायगा। जैसे : जादूगर कुछ हुए बिना सब कुछ हो जाता है, वैसे ही ईश्वर भी है। सूर्यकी किरणोंसे बादल बनते हैं, बरसते हैं; पर सूर्यकी किरणें ज्यों-की-त्यों रहती हैं। ठीक इसी प्रकार ईश्वर-चैतन्यकी ज्ञानात्मक किरणोंमें प्रपञ्चका प्रतिभास उत्पन्न होता है, दीखता है, मिट जाता है और ईश्वर-चैतन्य ज्यों-का-त्यों रहता है। लेकिन जबतक ईश्वरसे आत्माके अभेदका निर्विशेष रूपसे ज्ञान

नहीं होता, तबतक संसारका बीज बना रहता है। जब आत्मा-ब्रह्मकी एकताका ज्ञान हो जाता है, तब बीजत्व भस्म हो जाता है। अतः बीज चित्त, प्रकृति, कर्मसंस्कार, अविद्या या माया नहीं है। बीज तो साक्षात् परमात्मा है, जो इस अनिर्वचनीय प्रपञ्चके कारणरूपसे, अनिर्वचनीय कारणरूपात्मना स्थित है।

इस संसारके स्वरूपके विषयमें गीतामें (१५–१) बतलाया गया है :

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

यह बीज है। वृक्ष होगा तो बीज होगा ही। ऊर्ध्वमूलम् = जड़ ऊपर है। यहाँ बतलाया ही नहीं कि बीज क्या है। 'ऊर्ध्व-मूलमधः शाखम्'—यह मनुष्यशरीर है। उलटे वृक्षकी भाँति यह खाता ऊपर है, बढ़ता है नीचे। ब्रह्माण्ड भी ऊर्ध्वमूल है। इस अश्वत्थ वृक्ष में नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा—न आदि है, न अन्त है और न स्थिति है। यह जगत्के मिथ्यात्वका खुले रूपसे प्रतिपादन है। यह पेड़ कटेगा तब जब असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा—असंग शस्त्रसे जब इसे काटा जायगा। इस अश्वत्थ-वृक्षका बीज वही परमेश्वर है।

सनातनम्। संसारके बीज नष्ट होते रहते हैं, पर यह परमात्मा सनातन-नित्य, अविनाशी बीज है। कालमें जिसका आदि-अन्त न हो, वह कालमें नित्य है। उसमें पाँच-पचास आदि वर्षोंकी कल्पना नहीं बनती। उसका अंश नहीं किया जा सकता। ऐसी दशामें कलियुग, द्वापर आदिका काल, ब्रह्माकी आयु आदि सब उसमें कल्पित हीं होगा। अर्थात् सनातन, नित्यतत्त्वका बीजत्व

कल्पित है। वह अलग-अलग बीजोंके समान नहीं है। यह संसार उसीमें जादूके खेलके समान दीखता है।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। मूर्खोंकी समझमें 'बीजं मां सर्वभूतानाम्' यह बात नहीं आयेगी। अतः भगवान् कहते हैं: 'मैं बुद्धि बनकर जिसके हृदयमें बैठता हूँ। उसकी समझमें यह बात आती है। भगवत्कृपासे प्राप्त बुद्धिके बिना यह तत्त्व समझमें नहीं आता। श्वेताश्वतरोपनिषत् कहती है:

धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्। (३.२०)

गीता भी कहती है:

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यति।'
'तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।'

श्रुति भी कहती है:

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

प्रवचन = मनन। मेधा = निदिध्यासन। बहुना श्रुतेन = श्रवण। अर्थात् कोई श्रवण, मनन, निदिध्यासन बहुत दिनोंतक करता रहे, पर ईश्वर नहीं मिलता। पहले ईश्वर पसन्द तो करे कि 'यह जीव मुझे प्राप्त हो', तभी उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है और वेदान्त समझनेकी योग्यता आती है। गीता कहती है:

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

मनुष्यका नाश कब होता है? काम, क्रोध, लोभ आनेपर नाश नहीं होता। जब इन सब कामादिके कारण बुद्धिनाश हो जाय, तभी नाश होता है: बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। ईश्वर हमारे

हृदयमें बुद्धि बनकर बैठा है। वह बुद्धि नष्ट हो जायगी—जब ईश्वर हमें छोड़ देगा, तभी हमारा नाश हो जायगा।

हमारे हृदयमें बुद्धि, विवेकशक्ति बनकर ईश्वर बैठा है। अनपढ़ भी अपनी बुद्धिको सर्वोत्तम मानता है। वह कहता है: 'पढ़ा नहीं तो क्या, बुद्धि तो है ही।'

बुद्धि तीन प्रकारकी होती है: सात्त्विकी, राजसी, और तामसी। तमोगुण अन्धकार है, उससे ढँकी बुद्धि तामसी है। मोहप्रधान बुद्धि तामसी तथा संशयप्रधान बुद्धि राजसी है। जिसे बात ठीक समझमें न आये, संशय हो जाय, उसकी बुद्धि राजसी है। कबतक कर्मयोग करना चाहिए, संन्यास कब लेना चाहिए, प्रवृत्ति-निवृत्ति और कर्तव्य-अकर्तव्य क्या है, भय कहाँ है और अभय कहाँ, बन्धन तथा बन्धनका कारण अज्ञान क्या है—इसे जो बुद्धि ठीक-ठीक समझे, वह सात्त्विक बुद्धि है।

आप अपनी बुद्धिको देखोगे तो वह सात्त्विक ही जान पड़ेगी; क्योंकि जब आप देखोगे तो द्रष्टा होगे।

'बिहारी-सतसई'में एक दोहा है। गाँवमें नयी बहू आयी तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनकर गाँवकी स्त्रियाँ देखने आयीं। किन्तु उस बहूके कपोल दर्पणके समान चमकते थे। उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर सबने उसे अपने ही समान समझा। कालीको वह काली, झुर्री पड़ी बूढ़ीको झुर्रीवाली, बिना दाँतवालीको वैसी ही दीखी। सारांश, हम बुद्धिसे तादात्म्यापन्न होकर उसे देखते हैं। फलतः तामसी बुद्धिको भी सात्त्विक मान लेते हैं।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

बुद्धि वह है जिसके मिलनेपर कर्मका बन्धन कट जाय। जिसके बिना हम नष्ट हो जाते हैं और जिसके प्राप्त होने पर हम कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं, वह बुद्धि है। बुद्धिका फल ही है पाप-पुण्यसे बच निकलना। पापसे न बचोगे तो नरक जाओगे। पुण्यसे नहीं बचोगे तो स्वर्ग जाना पड़ेगा। अतएव गीता कहती है :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

बुद्धिमान्‌के लिए बुद्धि साररूप है। बुद्धि गयी तो सब गया। इसीलिए मादक द्रव्य निषिद्ध हैं; क्योंकि वे बुद्धिको शिथिल कर देते हैं। हम जो देखना चाहते हैं, उधर न ले जाकर मनको स्वतन्त्रतासे ले जाते हैं।

सत्तासे विरुद्ध वस्तु मारती है। ज्ञानसे विरुद्ध वस्तु बेहोश, पागल करती है। आनन्दके विरुद्ध वस्तु दुःख देती है। जिस वस्तुसे चित्तमें दुःख आता है, बेहोशी आती है, मृत्यु आती है, उससे बचानेवाली बुद्धि ही सच्ची बुद्धि है। श्रीमद्भागवतमें बुद्धि-का लक्षण है :

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

भगवान् कहते हैं कि 'बुद्धिमान्की वही बुद्धि है, मनीषियोंकी वही मनीषा—मनको वशमें रखनेकी शक्ति है कि वह मरनेवाले शरीरसे मुझ अमर वस्तुको प्राप्त कर ले।' सारांश, आत्मा या ब्रह्मको जाननेकी प्रज्ञा बुद्धि है और सब बुद्धिमानोंमें वही 'बुद्धि बनकर भगवान् बैठे हैं।

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' : कोई नास्तिक हो जाय या आस्तिक, चार भूत माने या पाँच, शून्य माने या और कुछ, सगुण माने या निर्गुण, बिना बुद्धिके तो कोई विचार कर ही नहीं सकता। जब कोई अपनी बुद्धिमत्तासे कोई बात सिद्ध कर दे, तो उसने क्या सिद्ध किया—यह मत देखो, क्योंकि परमात्मा बहुरूपिया है :

स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा भवति, नवधा भवति, एकदशधा भवति, अनेकधा भवति।'—(श्रुति)

यही देखो कि उसको सिद्ध करनेवाली बुद्धिके रूपमें कौन बैठा है? कौन चमक रहा है? किसीने कोई वस्तु देख ली तो वह वस्तुकी विशेषता नहीं है। वह उसकी पैनी दृष्टिकी विशेषता है कि उसने छिपे पदार्थको देख लिया। यदि उस वस्तुको ही हम देखने लगे तो संसारकी एक कार्यवस्तुको देखते हैं। पर यदि देखनेवालेकी दृष्टिपर, बुद्धिपर ध्यान दें तो उसे प्रकाशित करनेवाले ज्ञानस्वरूप परमात्माका दर्शन होगा। यह सबसे बड़ी बुद्धिमानी है कि परमात्माका ज्ञान हो। सबके भीतर बुद्धि बनकर वही बैठा है।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवाद भुवो भवन्ति।

—श्रीमद्भागवत

जब दो व्यक्ति परस्पर विवाद करने लगते हैं तो भगवान्‌की ही शक्ति एकको ठीक बतलाती और दूसरेको गलत बतलाती है। चार्वाककी बुद्धि भी भगवान्‌की शक्ति है और नैयायिकोंमें स्थित उसके खण्डनकी बुद्धि भी भगवान् ही है।

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोः
एकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मिणोः।

अर्थात् जो कहते हैं कि 'ईश्वर है' और जो कहते हैं : 'ईश्वर नहीं है' दोनोंको शक्ति, बुद्धि भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। कारण सबमें बुद्धि बनकर भगवान् ही बैठे हैं।

तेजः तेजस्विनामहम्। तेजका अर्थ है प्रगल्भ होना।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
—गीता १६.३

काम, क्रोध, लोभ दुःखसे दबना नहीं चाहिए। इन्हें ही भस्म कर दें, दबा दें। जीवनमें ऐसा तेज चाहिए जो अधर्म-अन्यायके सामने दबे नहीं।

'तेजः प्रागल्भ्यम्' : तेजका अर्थ है अन्यसे अभिभूत न होना। संसारमें छली-कपटी लोग ठग न सकें, दबा न सकें, इतना तो तेजस्वी होना ही चाहिए। फिर भी उस तेजको कभी दबा रखना पड़ता है, तो कभी प्रकट करना होता है। जैसे अग्निको कभी ढँककर रखना होता है तो कभी जलाना पड़ता है।

'ज्ञान-वैराग्य-प्रकाश' नामक पुस्तकमें लिखा है कि मनुष्यमें तेज रहना चाहिए, पर विष नहीं। वहीं एक दृष्टान्त दिया है :

'एक विषैला सर्प था, जो जिस ओरसे निकलता था, उसे काट लेता उससे मनुष्य, पशु मर जाते। एक साधु उधरसे निकले। साँप फुफकारता आया। साधुने कहा : 'शान्त!' सर्प शान्त हो गया तो बोले : 'अब किसीको काटना मत!'

साधु चले गये। सर्पने काटना बन्द कर दिया। थोड़े दिनोंमें लोग निर्भय हो गये। अब लड़के उसे छेड़ने-मारने लगे। वह दुबला हो गया। घायल हो गया। कुछ दिन बाद फिर वही साधु उधरसे निकले और पूछा : 'नागराज! क्या दशा है?'

सर्प : 'आप ही देख लें, बच्चोंने पत्थर मार-मारकर मेरी यह दशा कर दी है।'

साधु : 'मैंने तुम्हें काटनेको मना किया था, फुफकारनेको तो मना नहीं किया था!'

सारांश, फुफकारनेकी आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा दुष्ट लोग अपने मनके अनुसार नचानेका प्रयत्न करते हैं। जिसमें यह तेज है, वह व्यक्तिका नहीं, परमात्माका है।

भरतर्षभ। भरतर्षभ सम्बोधनका अर्थ है कि यह बात तुम समझ सकते हो। भरतर्षभ=शुद्ध मनवाला। भरतवंशमें ऋषभ-श्रेष्ठ। अर्थात् तुम सत्कुलमें उत्पन्न हुए हो।

मनुष्यकी शुद्धि तीन प्रकारकी होती है : १. शुद्ध माता-पितासे उत्पन्न होना। यह आधिभौतिकी शुद्धि है। २. आराधना करके—राम, कृष्ण, शिवादि किसी देवताका प्रसाद प्राप्त करना। यह आधिदैविक शुद्धि है। ३. मनमें शम-दमादि सद्गुण रहना और कामादि दोष न रहना यह आध्यात्मिक शुद्धि है। जब मनुष्य त्रिविध शुद्ध होता है तो तत्त्वज्ञान उसे करामलकवत् भासता है।

'भरतर्षभ' कहनेका तात्पर्य है कि अर्जुन तीनों प्रकारसे शुद्ध है। अर्जुनने उपासना खूब की है। महाभारत-युद्धके पूर्व देवी-की उपासना करके, वरदान पाकर ही अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुआ। भगवान् शंकरको प्रसन्न करके उसने पाशुपतास्त्र पाया। वह देवताका पुत्र है; शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न है।

बलं बलवतां चाहम्। एक रेतका कण है। वह बना तो कई टुकड़ोंसे है; पर टुकड़े-टुकड़े न होकर कणके रूपमें है। इससे पता लगता है कि उसमें कोई बल है जो कई टुकड़ोंको एकमें मिला रखे हैं। यदि उसमें बल न होता तो कई कण साथ न होते। यह बल कौन-सा है? यह बल भगवान् हैं।

हमारे शरीरमें हड्डियाँ जुड़ी हैं। संकल्प होता है कि हाथ उठे तो हाथ उठता है, पैर चलता है। इस शरीरको एक शरीरके रूपमें बनाये रखनेवाला एक बल है। वह बल वस्तुतः पर-मेश्वर ही है।

'बल वेष्टने' : जो किसी वस्तुको लपेट ले, उसका नाम बल है। शरीरमें बल है तो वह शरीरको घेरे हुए है। जब बल शरीर को छोड़ देगा, तो श्वासका चलना बन्द हो जायगा।

परमात्मामें जो ज्ञानबल और क्रिया है, वह स्वाभाविक है।

श्रुतिमें प्रज्ञा और प्राणकी उपाधिसे परमात्माका निरूपण किया गया है। राजा प्रतर्दनने युद्धमें देवताओंकी सहायता की। इससे प्रसन्न होकर इन्द्रने वरदान माँगनेको कहा। प्रतर्दन बोले : 'विषय नाशवान् हैं। इन्द्रियशक्ति सीमित है। भोगमें कभी रुचि होती है, कभी नहीं होती। भोक्ता कभी जागता है, तो कभी सो जाता है। अतः नाज भोग्यं पश्यामि : मुझे तो संसारके विषय, इन्द्रिय-मन

एवं भोक्तामें कुछ भी मांगनेयोग्य दीखता ही नहीं। अतः जो सर्वोत्तम ज्ञान हो, वह ज्ञान दो।' कौषीतकि-उपनिषदमें यह वर्णन है।

इन्द्रने कहा : 'हमारे शरीरमें प्रज्ञा और प्राण देखनेमें आते हैं। प्रज्ञा अर्थात् सोचनेकी शक्ति और प्राण अर्थात् बल, क्रियाशक्ति।

जब हम किसी वस्तुको जानते हैं तो जो वस्तु जानी जाती है, उसमें परमेश्वरका भाव मत करो। जाननेवालेमें परमेश्वरका भाव करो। ऐसे ही हम कुछ करते हैं, घड़ा उठाते हैं तो जो वस्तु उठायी या की जाती है, उसमें परमात्माका भाव मत करो। जो उठानेवाला या करनेवाला है, उसमें परमात्माका भाव करो।

क्रियाशक्ति हाथ-पैर, जीभ आदिमें है, पर जीभ, हाथ-पैरको जो बल देता है, वह प्राण है। शतपथ ब्राह्मण कहता है : प्राणो वै बलम्।

'ऊर्ज बलप्राणयोः'—बल एवं प्राणका नाम 'ऊर्जा' है। हाथसे काम होता है तो हाथमें क्रियाशक्ति है। पैरसे चलते हैं तो पैरोंमें गति-शक्ति है। जीभसे बोलते हैं, तो जीभमें वाक्शक्ति है। मनसे सोचते हैं, तो मनमें संकल्पशक्ति है। यह करने, चलने, बोलने, सोचने आदिकी शक्तियोंका नाम ही बल है। ऐसे ही नेत्रसे रूपका ज्ञान, कानसे शब्दका ज्ञान, नाकसे गन्धका ज्ञान, त्वचासे स्पर्शका ज्ञान, रसनासे स्वादका ज्ञान होता है तो नेत्र, कान, नाक, त्वचा और रसनामें देखने, सुनने, सूँघने, छूने तथा रस लेनेकी शक्ति है। इसी शक्तिको प्रज्ञा कहते हैं। इसीको प्रज्ञा, प्राणात्मक या संविद् बलात्मक परमात्माका स्वरूप कहते हैं।

'बलं बलवतां चाहम्' : सबसे बलवान् ब्रह्मा हैं जो सबके अन्तःकरणोंको संकल्प देते हैं। सबसे बली रुद्र हैं जो संसारको

मिटा देते हैं। लेकिन सबके बलके रूपमें ईश्वर। ईश्वरमें—स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। कर्मशक्ति और ज्ञानशक्ति जो जीवनमें भरपूर हैं, वे ईश्वरसे आती हैं।

प्रज्ञोपाधिक चेतन श्रीकृष्ण और बलोपाधिक चेतन श्रीबलराम दोनों परमात्मा हैं। बलप्रधान ईश्वर शेष हैं तो ज्ञानप्रधान ईश्वर शेषी।

बलकी अभिव्यक्ति वायु, इन्द्र तथा रुद्रमें होती है। इनके प्रकटरूप हनुमान्‌जी हैं। वे सीताजीके अनुसन्धानके लिए जब चलते हैं तो समुद्रमें मैनाक-पर्वत उठकर खड़ा होता और बोलता है कि 'विश्राम कर लो!' हनुमान्‌जी उसे हाथसे छू लेते और कहते हैं :

राम काज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ विश्राम।

उनमें इतना बल है कि विश्रामकी जरूरत ही नहीं है। एक छलांगमें समुद्र पार करते हैं। यह संसार-सागर एक धक्केमें हो पार होने योग्य है।

श्रीहनुमान्‌जीके मार्गमें जब सुरसा आयी तो

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा।
तासु दुगुन कपि रूप दिखावा॥

सुरसाके सामने यह बल प्रकट किया। सात्त्विक विघ्न था मैनाक तो राजस विघ्न था सुरसा। अन्तमें तामस विघ्न मिली लंकिनी, तो—

मुठिका एक ताहि कपि हनी।
रुधिर बमत धरती ढनिमनी॥

सुरसाने पहले ही कह दिया था।

राम काज सब करिहहु तुम बल-बुद्धि-निधान ।

श्री हनुमान्‌जी बल-बुद्धि दोनोंके निधान हैं । जब रावणने बड़ी डींग हांकी : 'हमने यह किया, वह किया' तो हनुमान्‌जी बोले :

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।
तासु दूत हैं...

रावण ब्रह्माके वरदानसे ही बली है । भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायाके एक कल्पित अंश, लव हैं ब्रह्मा । हनुमान् कहते हैं : 'रावण, उन्हींके आशीर्वादसे तुमने चराचर जगत्‌को जीत लिया । मैं उन्हींका दूत हूँ, अतः तुम्हें खूब जानता हूँ । श्री हनुमान्‌जी भगवान्‌के प्राणावतार हैं ।

सारांश, बलका खजाना-मूल भगवान् ही हैं । संसारमें जितने बलवान् हैं, उनमें उन्हींका बल प्रकट होता है ।

यहाँ शंका होती है कि तब चोर, डाकू, अनाचारीमें भी तो बल है । तो क्या इन सबके भीतर भी बलके रूपमें परमात्मा है ? उत्तर है : उनमें भी बैठा तो बलके रूपमें परमात्मा ही है; किन्तु उसपर पर्दा आ गया है । उस पर्देको हटाकर परमात्माको ढूँढो । जैसे सब ब्रह्म हैं; किन्तु पहले परिच्छिन्न नाम-रूपका निषेध करके उसे पहचानना पड़ता है । यदि परिच्छिन्न नाम-रूपका निषेध नहीं करोगे तो अपरिच्छिन्न ब्रह्मको कैसे पहचानोगे ? ऐसे ही सम्पूर्ण बलियोंमें जो परमात्मरूप बल है, उसपर पड़ा पर्दा हटाना ही पड़ेगा ।

'बलं बलवतां चाहम्' : सनकादिके शापमें जो बल है, वह भी भगवान् हैं । जय-विजयके रावण होनेमें जो बल है, वह भी भग-

वान् हैं। लेकिन काम-रागके पर्दको हटाकर शुद्ध बलको देखो, तब भगवान्‌का दर्शन होगा।

हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा: 'तेरे पास किसका बल है कि तू मेरी आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है? तेरे पीछे कौन है?'

प्रह्लाद बोले:

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।

—श्रीमद्भागवत

'पिताजी! केवल मेरे भीतर ही नहीं, आपके भीतर भी और संसारमें जितने बली हैं, सभीका बल वही है।'

'येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा।

जिससे आकाश ज्यों-का-त्यों है, पृथ्वी पानीमें गल नहीं जाती, वह सब किसका बल है? स्वर्गको किसने धारण कर रखा है? वही परमात्मा है। बल एवं काम दोनोंके साथ जीवमें अज्ञान भी रहता है। अतएव वह बल आसुरी सम्पत्तिका है। गीता कहती है:

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

—गीता १६.१८

यहाँ काम एवं रागसे आच्छन्न होनेके कारण जो बल है, वह आसुरी सम्पत्तिका है। भगवान्‌ने बलवानोंके साररूप जिस बलको अपना स्वरूप बतलाया है, वह काम-रागसे रहित है।

काम-रागविवर्जितम्। काम और रागने उस बलको ढँक लिया है। यही उसके आच्छादक हैं।

सुखानुशयी रागः—जो सुख बीत चुका, वह फिर लौटकर आये, यह राग है। गया सुख लौटकर नहीं आता। अर्थात् पहले भोगे हुएको यादकर उसे चाहना 'राग' है।

जब हम किसीसे कुछ पाना-छीनना चाहते हैं या कुछ पकड़ रखना चाहते हैं तो उसमें अपना 'अहम्' सम्मिलित हो जाता है। तब विषय और अहं अर्थात् भोग्य और भोक्ता, कर्म और कर्ताके आवरणसे परमेश्वररूप बल प्रतीत नहीं होता। अतः मनसे काम एवं रागको हटा दो।

'कामरागविवर्जितम्'। सबमें बल बनकर भगवान् बैठे हैं; किन्तु बल जब कामोपाधिक या रागोपाधिक होकर क्रियाशील होता है, तब उस बलका पता नहीं लगता। विषय-सौन्दर्य बीचमें आ घुसता है।

जो वस्तु अपनेको मिली नहीं, उसे पानेकी इच्छाका नाम 'काम' है और जो वस्तु अपने पास है, वह छूटने न पाये, इसका नाम 'राग' है।

बलका प्रयोग जब हम ईप्सित वस्तुकी प्राप्तिके लिए करते हैं—'हमें यह मिले, वह मिले', तब हम ईश्वरको कंगाल बना देते हैं। जब हम किसी वस्तुको अपने साथ चिपकाकर रखना चाहते हैं, तो अपनेको कंगाल बना देते हैं।

ईश्वर प्रत्येक जगह भरपूर सत्स्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्द-स्वरूप है, वह तुम्हारे पास भी है। फिर भी तुम जाते हो कौड़ी-कौड़ी माँगने-छीनने तो घरकी सम्पत्तिका तिरस्कार हुआ या नहीं? आनन्दका खजाना तुम्हारे भीतर है और तुम जाते हो बाहर सुख ढूँढ़ने!

आज जो पास है, वह छूट जायगा ही, यह सुनिश्चित है। 'हाय हाय! यह छूट जायगा तब नष्ट हो जायगा तो हम कैसे रहेंगे?' यह कहना अपना कंगालपन है। वह वस्तु जब पास नहीं थी, तो ईश्वरने ही तुम्हें दी। उससे उत्तम वस्तु, उत्तम अवस्था वह दे सकता है। यह नहीं था, तब तुम जीवित थे और नहीं रहेगा, तब भी तुम जीवित रहोगे। फिर इसके साथ इतना राग क्यों?

लोग दूसरेके पासकी, दूसरेके स्वत्वकी वस्तु अपने स्वत्वमें लानेके लिए बलका प्रयोग करते हैं और अपने स्वत्वको वस्तु छूट न जाय, इसके लिए भी बल-प्रयोग करते हैं। यह बलका दुरु-पयोग है। इससे बचनेकी शक्तिका नाम गीताकी भाषामें 'धृति' है—धारणा-सामर्थ्य।

पैरको कुपथमें न जाने दें, हाथको कुकर्ममें न लगने दें, नेत्र बुरी वस्तु न देखने पायें, मनको बुरा संकल्प न करने दें, यह धृति-शक्ति भगवान्‌ने हमें दी है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारेण धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

बलका प्रयोग कामनाकी पूर्ति या रागकी पूर्तिके लिए मत करो। अपने पास जो नहीं है, उसे पानेके लिए बल-प्रयोग कामसहित बल है। अपने पास जो है, उसे पकड़े रहनेके लिए बल-प्रयोग रागसहित बल है। बलको शान्त रहने दो।

संस्कृतमें 'बाल्य' शब्द है। श्री शंकराचार्य भगवान्‌ने जहाँ श्रुतिमें 'बाल्य' शब्दका प्रयोग है, वहाँ उसका अर्थ बाल्यावस्था नहीं किया है।

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं निर्विद्य मौनेन तिष्ठासेत्, मौनं चामौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।

यहाँ बाल्य-शब्दका अर्थ किया : 'ज्ञानबलभावेन' ज्ञानबलभाव-में स्थित हो अर्थात् जिसे उचित समझते हों, उसपर डट जाओ। जिसे अनुचित समझते हो, उसका प्रतीकार करो। ये काम-राग अपनेको विचलित न कर सकें।

किसी राजाको लगा कि 'अमुक प्रदेश हमारा नहीं है, हमें मिलना चाहिए।' उसने आक्रमण कर दिया। किंवा 'प्रजा अमुक-अमुक माँग कर रही है। प्रजाकी माँग पूरी करें तो खजाना खाली हो जायगा। तब प्रजाके नेताको जेलमें डाल दें।'—दोनों जगह बलका प्रयोग काम एवं रागकी पूर्तिके लिए हुआ।

बल तो भगवान् हैं, पर काम-रागसे युक्त होनेपर उनपर पर्दा पड़ जाता है। काम और रागकी उपाधि हटा दो तो क्रिया नहीं होगी। क्रिया न होनेपर शक्तियोंकी जरूरत नहीं रहेगी। तब बल अपने रूपमें अवस्थित होगा। अर्थात् हम समाहित, स्वरूपस्थ हो जायँगे। अतः काम-रागकी उपाधिसे रहित स्वस्थ बल ही ज्ञान-बल है, रसबल है। अपने भीतर इतना आनन्द है कि आनन्द लेनेके लिए दूसरेकी अपेक्षा ही नहीं। यह बल भगवान् हैं।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। तब क्या कामका सर्वथा बहिष्कार भगवान् कर रहे है? काम तो भगवान्‌का पुत्र है, उसका कुछ तो पक्ष लेना चाहिए। श्रुतिमें तो परमात्मामें भी कामका वर्णन है :

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।

कामस्तदग्रे समवर्तत।

अर्थात् सबसे पहले परमात्मासे काम प्रकट हुआ। कामका सर्वथा बहिष्कार कर देनेपर ईश्वरका सृष्टि बनाना भी नहीं

बनेगा। यदि ईश्वर अपने आपसे अपने आपमें खेलना भी न चाहता तो सृष्टि ही क्यों ?

यहाँ भगवान् कामका सर्वथा निषेध नहीं कर रहे हैं। जैसे चैतन्यकी प्रधानतासे हिरण्यगर्भ है; वैसे ही वृत्तिकी प्रधानतासे काम है। यह हिरण्यगर्भ ही है। भगवान् कहते हैं : 'काम मेरा स्वरूप ही है, पर वह धर्मके अविरुद्ध होना चाहिए।' दूसरे शब्दोंमें वे कहते हैं कि 'हम पुत्रका साथ तब देते हैं, जब वह धर्मका विरोधी न हो। कामना जब धर्मके विरुद्ध जाती है, तो उसका साथ छोड़ देता हूँ।'

भगवान्‌का रसात्मक स्वरूप कामके रूपमें प्रकट है, बलात्मक स्वरूप कर्मके रूपमें, तो ज्ञानात्मक स्वरूप बुद्धिरूपमें प्रकट होता है। जहाँ कामना दूसरोंको सताने या स्वयंको कंगाल बनानेके लिए है, वहाँ भगवान् दूर जाते हैं।

प्रश्न होगा—क्योंकर बल, कर्म तथा रस काम, ज्ञान और बुद्धि बन जाते हैं ? अखण्ड ज्ञान-स्वरूप परमात्मा हमारे हृदयमें क्यों-कर वृत्तिरूप बन जाता है ? परिपूर्ण आनन्दस्वरूप हमारे हृदयमें क्यों काम बन जाता है ? समग्र सृष्टिके बल-सत्ताके रूपमें विराज-मान भगवान् हमारे हृदयमें कर्मके रूपमें क्यों प्रकट होता है ?

यह इसीलिए कि हम अपने स्वरूपको जानते नहीं। जहाँ अपने स्वरूपको ब्रह्मके रूपमें जान लेंगे, वहीं वृत्ति, क्रिया और वासना सब भस्म हो जायँगी।

'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' : धन कमानेकी इच्छा होती है तो उसकी कोई मर्यादा है या नहीं ? चाहे जिसका धन मिले, चाहे जहाँसे मिले, चाहे जैसे मिले, क्या वैसा ही लेनेको राजी हों ? तब तो आप धनके खिलौने बन गये।

एक नियम होना चाहिए कि ऐसा धन होगा तो लेंगे और ऐसा होगा तो नहीं। यह नियम बनानेपर मन, इन्द्रिय, बुद्धि पर नियन्त्रण हो जायगा। यह मन, इन्द्रिय, बुद्धिपर नियन्त्रण ही धर्म है।

'धारणाद् धर्मः'—महाभारतकारने कहा है :

यस्तु धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।

अर्थात् जहाँ हम अपनेको रोकनेमें समर्थ हैं कि 'बस, अब यह बात मर्यादाके बाहर जायगी', वह धर्म है।'

काम कहाँतक? जहाँतक धर्मका विरोध न हो। 'क्या करें, क्या न करें; भोगें तो क्या सब कुछ भोगें? नहीं, कुछ भोगें और कुछ नहीं, ऐसा सोचें मर्यादा आ गयी। 'यह लो, यह मत लो' इस मर्यादाकी जो बुद्धिमें स्थिति है, उसे 'धर्म' कहते हैं।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।

भोग भोगो, पर उसके साथ त्याग भी रखो। त्याग नहीं रहेगा और भोग करोगे, तो भोगके दास बन जाओगे।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' यह सिद्धान्त ईश्वरप्राप्तिके लिए है। विषयका अनुसन्धान करें तो सब विषयोंमें सामान्यरूपसे ईश्वरकी प्राप्ति होगी। आचारोंके अनुसन्धानसे ईश्वर मिलेगा। कर्म, शक्ति, बुद्धि, इच्छा किसीका भी अनुसन्धान करें तो ईश्वर मिलेगा। भगवान् कहते हैं कि 'मैं सम्पूर्ण भूतोंमें काम बन बैठा हूँ।'

काम दो प्रकारका है : कामात्मनः स्वर्गपराः यहाँ निन्दा करनेके लिए कामका उल्लेख है।

काम-क्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

यहाँ तो यह भी कह दिया कि कामी, क्रोधीको तो भगवान्के दर्शन ही नहीं होते।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् 'काम-क्रोधका त्याग नहीं करेंगे तो आपका साधन ही सफल नहीं होगा।'

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

यहाँ कामको अत्यन्त त्याज्य ही बता दिया है। तब भगवान् अपनेको काम क्यों बतलाते हैं?

मनुका कहना है: 'उस धनको और उस भोगको बिल्कुल छोड़ दें जिसमें धर्मका सम्बन्ध न हो:

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

भोग भोगो, पर वह धर्मविरुद्ध न हो। धन कमाओ, पर वह धर्मविरुद्ध न हो।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे तूलिकेव विनश्यति॥

अर्थात् अधर्मके भोगमें ऐसा रोग आता है कि सारे भोगका बदला महीनोंमें चुक जाता है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।

अर्थात् भोगमें रोगका भय, कुलमें च्युतिका और धनमें राजाका भय बना रहता है।

वात्स्यायन् कामसूत्रमें आया है: परस्परमविरोधेन सेवेत।

धर्म और काम दोनोंमें विरोध न हो, ऐसा दोनोंका सेवन करें। इतना धर्मिष्ठ न बनें कि भोजनके बिना शरीर सूख जाय या कंगाल होकर भीख माँगनी पड़े। धर्मसे अविरुद्ध काम और कामसे अविरुद्ध धर्मका सेवन करें। इसी प्रकार धर्म या कामसे अविरुद्ध अर्थका सेवन करें।

यहाँ भगवान्‌ने कहा है: 'मैं प्राणियोंके हृदयमें काम तो हूँ, इच्छा बनकर ही आता हूँ, लेकिन धर्मके अविरुद्ध इच्छा मैं हूँ।

यदि इच्छा बनकर भगवान् हमारे हृदयमें न रहते तो भगवत्प्राप्तिकी भी तो इच्छा न होती। ज्ञान न चाहते तो जिज्ञासा नहीं होती। मोक्ष न चाहते तो मुमुक्षा न होती। भगवान्‌ने बड़ी कृपा की और हमारे हृदय में काम बनकर आये। बोले: 'इसके द्वारा तुम मुझे चाहो।

भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका ही नाम 'प्रेम' है। जब विषयको लेकर इच्छा होती है—'और और और', तो उसका नाम काम हो जाता है। भगवान्‌ने कहा: 'हमें चाहते हो, तब तो सर्वोत्तम बात; किन्तु हमें न चाहकर संसारको चाहते हो तो अपनी इच्छाको नियन्त्रणमें रखो। धर्मके विपरीत मत जाओ।'

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि। इस सम्बन्धमें श्री अभिनव गुप्ताचार्य कहते हैं: 'वस्तुतः श्रुतियोंमें जो काम-शब्दका प्रयोग हुआ है, वह भगवदिच्छाके लिए हुआ है। 'कामस्तदग्रे समवर्तत अथवा सोकामयत' यह तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके आधारभूत, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके संकल्पक, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अधिष्ठान महेश्वरकी इच्छाके लिए 'काम' शब्दको प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ 'धर्माविरुद्धो'का अर्थ है कि उस महेश्वरकी

इच्छाके अनुसार। उसकी इच्छाके विपरीत तुम इच्छा करते हो वह धर्म-विरुद्ध है।'

ईश्वरकी इच्छा क्या है? वह तो संवित्-रूप है। वह केवल प्रकाशित है। 'अयं घटः, अयं पटः, अयं मठः'—भगवान् इच्छा करते हैं: 'अरे ओ मेरे संकल्प-बीज संसार! प्रकट हो जाओ!' यह केवल ज्ञानरूप इच्छा है। ईश्वरके ज्ञान और इच्छामें भेद नहीं है।

जहाँ ज्ञान और इच्छामें भेद होता है, वहाँ अधर्म होता है। तुम्हारा ज्ञान है कि झूठ नहीं बोलना चाहिए। इच्छा है—झूठ बोलें, तो अधर्म है झूठ बोलना। ज्ञानके विरुद्ध होनेपर इच्छा और कर्म अधर्मानुविद्ध हो जाते हैं।

ईश्वरने अपने ज्ञान, जानकारीको प्रकट किया—यही उसका काम है। ऐसे ही तुम संसारको प्रकाशित करो। जानो, अनुभव करो; किन्तु जो कुछ हो रहा है, उसमें सटो मत। उसमें हस्त-क्षेप मत करो। ईश्वरकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाओ। ईश्वरने कहा: 'प्रलय हो!'

'हाँ प्रलय हो।'

ईश्वरने कहा: 'सृष्टि हो!'

'हाँ, सृष्टि हो!'

प्रभुकी इच्छामें मिलायी इच्छा, काम धर्माविरुद्ध है। जीवका धर्म है ईश्वरके अनुगत होना। जीवकी इच्छा जब अपनी इच्छा बन जाता है तब धर्म-विरुद्ध हो जाती है। इसलिए कहा है:

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत्।

अपने चित्तको परमात्माकी इच्छा अथवा ज्ञानमें मिला दो।●

६. कुम्हार भी : मिट्टी भी

संगति :

परमात्मासे भिन्न कुछ नहीं, है : 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति, धनञ्जय !' 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' यहाँ तक ज्ञानका वर्णन है।

'रसोऽहमप्सु' से जो प्रारम्भ हुआ, वह विज्ञानका वर्णन है। जो कुछ वस्तु उत्पन्न होती, बदलती दीखती है, वह सब भगवान् हैं—यह विज्ञानके वर्णनमें कह रहे हैं। भगवान् अपने उत्तरदायित्वसे हिचकते नहीं। वे सम्पूर्ण प्रपञ्चको कह रहे हैं—'हमारी सत्ता, हमारा ज्ञान, हमारा आनन्द ही इस रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है।'

या यों कहें कि 'जो संसार बनाता है, उसका नाम ईश्वर है' या कहें—'जो संसार बन गया है, उसका नाम ईश्वर है।' ईश्वर कुम्हारके समान है या माटीके समान ?

तुम घड़ेमें दोष बतला रहे हो तो तुम्हें घड़ेकी कारीगरीमें दोष लगता है या मिट्टीकी किस्ममें ? यदि कारीगरीमें त्रुटि है तो ईश्वर की कलामें त्रुटि है और मिट्टीमें दोष है, तब तो ईश्वर ही सदोष है।

एक महात्मा विद्वान् थे, लेकिन उनका रूप अच्छा नहीं था। वे राजसभामें गये तो सभाके लोग हँस पड़े। महात्माने पूछा :

मटियहिं हँससि कि कोहरहिं ?

तुम लोग कुम्हारकी हँसी कर रहे हो या मिट्टीकी ?

वस्तुतः इस प्रपञ्चका कुम्हार और मिट्टी एक ही है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो सात्त्विकभाव हैं जो राजस और तामसभाव हैं, वे मुझसे ही हैं, यह जानो। मैं उनमें नहीं, वे मुझमें हैं।

जितने सात्त्विकभाव हैं—ज्ञान, वैराग्य, धर्म सभी भगवान्-रूपी वृक्षपर रहते हैं। अहंकार, मन, प्राण राजसभाव हैं। पञ्च-भूतोंमें तामसभाव हैं।

सात्त्विका भावा राजसा तामसाश्च ये: 'सात्त्विकाः शमदमादयः'—शम-दमादि सात्त्विकभाव हैं। प्रवृत्ति, तृष्णादि राज-सभाव हैं। निद्रा, आलस्य-प्रमादादि दुःख, रोदन तामसभाव हैं।

मत्त एवेति तान् विद्धि। ये सब भगवान्से होते हैं।

चारो वेद, तीनों गुण, ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप इन गुणोंके अधि-ष्ठाता, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, चारो वर्ण, चारों आश्रम, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि चर-अचर सभी सात्त्विक, राजस, तामस भावोंके अन्त-र्गत आते हैं। कोई शेष नहीं रह जाता।

जैसे गाय सात्त्विक पशु है, बकरी राजस पशु है, तो अजगर तामस प्राणी है। भगवत्पूजन, यज्ञ-यागादि सात्त्विक कर्म हैं, बहु-धन्धिता राजस है, निकम्मा रहना तामस है। इनमें कोई द्रव्यरूप हैं, कोई क्रियारूप हैं, तो कोई ज्ञानरूप। जो ज्ञान-प्रधान हैं, वे सात्त्विक हैं, जो कर्मप्रधान हैं, वे राजस हैं। जो द्रव्य-वस्तु प्रधान हैं, वे तामस हैं।

'मत्त एवेति तान् विद्धि' : भगवान् कहते हैं कि ये सब के सब मुझ प्रकाशकसे ही प्रकाशित हैं और मुझ अधिष्ठानमें ही सब अध्यस्त हैं। मुझ कारणमें सब कार्यरूपसे अनुस्यूत हैं :

'एते सर्वे विलक्षणा भावाः मत्त एवोत्पन्नाः, मच्छेषतया मय्येवास्थिताः, मच्छरीरतया मय्येव स्थिताः। अतः तत्र सारोऽहमेवावस्थितः।'

श्री रामानुजाचार्य महाराज इस प्रसंगका उपसंहार करते हुए अपने भाष्यमें लिखते हैं : 'ये जितने विलक्षण भाव हैं—जो सात्त्विक है, वह राजस या तामस नहीं, जो राजस है वह सात्त्विक या तामस नहीं, जो तामस है, वह सात्त्विक या राजस नहीं—सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; मेरे ही बच्चे हैं।'

घड़ा काला हो या लाल, मिट्टीसे ही तो बना है। ये आपसमें अलग-अलग हैं तो क्या हुआ ? बिजलीके बल्बोंकी शक्ति अलग-अलग है। किसीमें १५, किसीमें २५, किसीमें ४० है, पर है तो सारा बिजलीका खेल ही। ऐसे ही जो सृष्टि दीख रही है, उसमें निमित्त कारण=बनानेवाले भगवान् और उपादान=बननेवाले भी भगवान्। ये सब भगवान्के ही शेष हैं अर्थात् वे ही इनका नियन्त्रण करते हैं। वे ही इनके भोक्ता हैं। उन्हींके ये आश्रित हैं। उन्हींके शरीर हैं और उन्हींमें अवस्थित हैं। अतः चाहे जीव हो या जगत्, चाहे सात्त्विक हो या राजस-तामस, भगवान्से भिन्न कोई नहीं है।

तामस अहंकारसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। अतः सब पाञ्चभौतिक पदार्थ, सब शरीर तामस हैं। राजस अहंकारसे कर्मेन्द्रियाँ और प्राण उत्पन्न हुए, अतः वे तथा क्रियामात्र राजस हैं। सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और देवता; अतः ये सब सात्त्विक हैं। इन तीनोंकी साम्यावस्था प्रकृति है ये

सबके सब परमात्मामें मायामात्र हैं। जीव अविद्यासे इन्हें सच समझ रहा है। परमात्मामें ही ये सब भेद हो गये हैं।

भगवान् यदि भूत-प्रेत-राक्षस न बनाते तो मनुष्य उनसे श्रेष्ठ है, यह कैसे पता लगता? यदि देवता न बनाते तो श्रेष्ठ कर्मका फल श्रेष्ठ मिलता है, यह कैसे ज्ञात होता? देवता भोगयोनि हैं। मनुष्य हैं कर्मयोनि। हिंस्रयोनि दैत्य हैं। यह सब रचना भगवान् सबमें रहकर करते हैं।

एक दिन एक लड़का अपने पिताके मित्रकी गोदमें बैठ गया। मित्रने उसे खिलाया-पिलाया, पुचकारा-उछाला। बच्चा घंटे-आध घंटे उसकी गोदमें बैठा रहा। मित्रने कहा: 'तुम्हारा पिता मैं हूँ, वह नहीं।'

बच्चेने मान लिया। अब मित्रने पूछा: 'तुम्हारा पिता कौन?' बच्चेने पिताके मित्रको बता दिया। इस भोले बच्चेकी बात सुनकर पिताको हँसी आयेगी या क्रोध?

यह जीव मायाकी गोदमें बैठा है। मायाके बहकावेमें कह देता है: 'हमारा बाप कोई नहीं। हम अपनी माँसे ही पैदा हुए।'

एक सज्जनके दो बच्चे हैं। उनमें लड़का साँवला और लड़की गोरी है। लड़केसे किसीने पूछा: 'तुम्हारी बहन तो गोरी है, तुम साँवले क्यों?'

भोले बच्चेने बताया: 'मैं बापके पेट से आया हूँ। बाप सांवला है। यह माँके पेटसे आयी है और माँ गोरी है।'

ऐसे भोले बच्चोंके समान जीव नहीं जानते कि सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है।

वैष्णवाचार्योंका मत है कि सम्पूर्ण सृष्टि भगवद्‌रसकी अभिवृद्धिके लिए है। जैसे भोजनमें कटु, तीक्ष्ण, कषाय, मधुर रस स्वादवृद्धिके लिए होते हैं; जैसे चटनी, अचार, खीर खानेके बीच जीभ पर रखनेसे खीरका स्वाद बढ़ जाता है, वैसे ही राजस-तामसभाव सात्त्विक रसका स्वाद बढ़ाते हैं।

श्री वल्लभाचार्यजी महाराजकी तो गीतापर टीका मिलती नहीं। श्री वल्लभ दीक्षित और श्री पुरुषोत्तमजी महाराजने इस सम्प्रदायमें गीतापर टीका लिखी है। उनका भाव है: 'जो द्वारिकाके लोग वसुदेव, देवकी आदि हैं तथा ऋषि-मुनिगण जो बड़े ज्ञानी, याज्ञिक, योगी हैं, वे सब सात्त्विक हैं। उन्हें भगवान्‌ने बताया कि ये हमारा ज्ञान प्राप्त करें। मथुराके कर्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको भी भगवान्‌ने बनाया। वे यज्ञमें लगे थे। भगवान्‌ने माँगनेके लिए भी उनके पास अपने सखा भेजे तो वे बोले ही नहीं। वे राजस हैं। आचारहीन, ज्ञानहीन, जातिहीन कुब्जा तामस है ये तीनों भगवान्‌के बनाये हैं। व्रजके वृक्ष, हरिण, मेघादि कौन हैं? ये सबके सब 'मत्त एवेति'—सब भगवान्‌से ही उत्पन्न हुए। इनके आधार, प्रकाशक और अधिष्ठान भी भगवान् हैं।'

जब ये सब संसारकी वस्तुएँ भगवान् ही हैं तो सब तो मरते भी हैं। कभी इनमें विकार भी होता है। यदि ये सब भगवान्‌के शरीर हैं, भगवान्‌के ही संकल्प हैं, भगवान्‌में ही स्थित हैं तो इनके विकारी अंशको लेकर भगवान्‌का भी तो एक अंश विकारी हो जायगा। अतएव भगवान् इनसे अपनी निर्लिप्तता बतलाते हैं:

न त्वहं तेषु ते मयि। बात तो मुख्य यह है कि यह सब होनेपर भी मुझ अव्ययात्माका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं'—यह एक अर्थ है।

'न मैं उनमें हूँ' न वे मुझमें हैं'—यह दूसरा अर्थ है।

नकारका दो वार अन्वय कर लेते हैं—'अहं तेषु न, किन्तु ते मयि सन्ति।' 'अहं तेषु न, ते मयि न।'

वस्तुतः परमात्माका संसारके साथ कैसा सम्बन्ध है? सम्बन्ध कई तरहके होते हैं। एक योगरूप सम्बन्ध होता है, एक विभूतिसम्बन्ध तो एक बन्धरूप सम्बन्ध।

गीतापर श्री मधुसूदन ओझाका विज्ञान-भाष्य है। उसमें कहा गया है: 'दूध और पानी परस्पर मिल गये, यह योग-सम्बन्ध हुआ। विभूति-सम्बन्ध है कि बिजली चमकी तो पहाड़ चमक गया। पहाड़पर बरफ जमकर वह सुशोभित हो, हरियाली हो तो यह बरफ या हरियाली पहाड़ी नहीं—पहाड़की विभूति है।

कहीं दो वस्तु मिलकर तीसरी वस्तु बन जाती है। जैसे: कोयले और सोड़ेको मिलानेसे बारुदके समान चीज बन जाती है। अब प्रश्न हुआ कि परमात्मा और जगत्का सम्बन्ध कैसा है? क्या बन्धरूप विस्फोटक सम्बन्ध है? अथवा ईश्वर और जगत् दोनों समसत्ताक हैं और दूध-पानीके समान मिले हैं? अथवा यह जगत् ईश्वरकी विभूति है?

जैसे हम नेत्र बन्द करके बैठे और हमारे मनमें एक सोने या हीरेका मुकुट चमक गया, यह बुद्धिवैभव है। मुकुट बुद्धिमें रहता नहीं। इसी प्रकार परमात्मासे जगत्का न योगसम्बन्ध है, न बन्ध समन्ध। किन्तु जबतक मनुष्योंको संसार सच्चा दीखता है, तबतक तो यह भगवान्की विभूति है।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत्।
यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।

लेकिन जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब चेतनसे चेतन-का ज्ञान होनेमें चेतन परोक्ष नहीं होता। चेतन दृश्य, जड़ नहीं होता। चेतनका ज्ञान अपनेसे अभिन्न रूपमें होता है। तब यह जगत् रह ही नहीं जाता।

न त्वहं तेषु ते मयि। भगवान् कहते हैं—'जगत्के साथ मेरा व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध भी नहीं है। केवल मैं हूँ।

सब वैष्णव टीकाकारोंने प्रायः इसकी यही व्याख्या की है : 'अहं तेषु न, किन्तु ते मयि सन्ति।' भगवान् शंकराचार्यजीने भी यही पद्धति स्वीकार की है।

जैसे मिट्टीसे घड़ा बना तो घड़ा मिट्टीसे बना, मिट्टी ही है, मिट्टीमें ही मिलेगा। 'घटादयः मयि सन्ति'—घड़ा तो मिट्टीमें है ही; 'किन्तु अहं तेषु नास्मि।' तात्पर्य यह कि घड़ेके फूटनेसे मिट्टी नहीं फूटती। घड़ेके काले-लाल होनेपर भी मिट्टी ही रहती है। सोनेका बना गहना रहेगा, बनेगा, टूटेगा; पर सोना ज्यों-का-त्यों रहेगा। घड़ा फोड़कर देखो तो मिट्टी ही है। गहना गलाकर देखो तो सोना ही है। न फोड़ें, न गलायें तब भी तो वह मिट्टी और सोना ही है। इसी प्रकार परमात्माके सिवा और कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

'सब परमात्माके अधीन हैं। परमात्मा किसीके अधीन नहीं है—श्रीधरस्वामी आदिने ऐसी व्याख्या की है। वह सब कुछ हो जाता है, वह किसीके चलाये नहीं चलता। वह सबको जिलाता है, पर किसीके जन्मसे उसका जन्म नहीं होता। वह सबको मारता है, पर किसीके मर जानेसे उसकी मृत्यु नहीं होती।

श्रीशङ्करानन्दजीको टीका भिन्न है। उन्होंने इसकी व्याख्या की है : 'न तु अहं तेषु, न ते मयि।' सेठ श्री जयदयाल गोयन्दकाने गीतातत्त्वविवेचिनीमें यही अर्थ लिया है। वे कहते हैं : रस्सीमें साँप दीखता है तो रस्सीमें साँप है या साँपमें रस्सी ? भ्रमसे जो वस्तु दीखती है, अपने अधिष्ठानसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अधिष्ठानका भी उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः परमात्मा ही हैं, दूसरी कोई वस्तु नहीं है। संसार जो दीखता है, वह पूर्ण ब्रह्मके अज्ञानसे दीखता है।

भ्रान्त्यन्यथानुपपत्तिसे अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा अविद्याकी सिद्धि होती है। भ्रान्तिका अर्थ है एक चीजको दूसरी चीज समझना। जब एक वस्तुको कोई दूसरी वस्तु समझने लगता है, तो निश्चय हो जाता है कि उसे वास्तविक वस्तुका ज्ञान नहीं है।

अर्थापत्तिके द्वारा ही यह सिद्ध होता है कि केवल अविद्याके द्वारा ही हम समझते हैं कि जगतमें परमात्मा है और परमात्मामें जगत् है। वस्तुतः जैसे आकाशमें नीलिमा नहीं है और नीलिमामें आकाश व्याप्त नहीं है, दोनोंमें व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है। श्रुतिने स्पष्ट कहा—'व्याप्यव्यापकता मिथ्या।'

गीतामें आया—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

इसका तात्पर्य है कि सर्वभूतोंकी केवल भ्रान्तिजन्य प्रतीति है। एक अद्वितीय परमात्मा है।

१०. परमात्मानुभव क्यों नहीं ?

संगति :

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति—भगवान्‌ने कहा—'मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।' केवल परमात्मा ही परमात्मा है तब प्रश्न उठा कि जब सब भगवान् ही हैं तो सबको ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता ?

जब भगवान् ही हैं सब रूपमें तो उन्हींका भजन-चिन्तन करना चाहिए; किन्तु ऐसा करना सरल क्यों नहीं है ?

जो संसारासक्त है, वह ईश्वरसे प्रेम कैसे करेगा ? यहाँ प्रश्न उठता है कि लोग भगवान्‌का अनुभव करना भी चाहते हैं या नहीं ? लोग तो संसारकी वस्तुओंमें—नाम-रूपमें आसक्त हैं। जब बच्चा दो आनेके खिलौनेसे खेलनेमें मस्त है तो उसे गोदमें लादे रहनेकी क्या जरूरत है ? संसारी मनुष्य छोटी-छोटी चीजोंमें फँस गये हैं। इन्हें इन वस्तुओंके सिवा दूसरा कुछ सूझता ही नहीं है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन तीनों गुणमय भावोंसे यह जगत् मोहित हो रहा है। अतः इनसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता।

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः'—इन तीनों गुणोंकी गति बहुत अधिक है, जो भगवान्‌के भजनमें बाधा डालते हैं। गुणके तीन रूप हैं—प्रकाश-प्रवृत्ति और मोह। प्रकाश सात्त्विक, प्रवृत्ति राजस और मोह तामस भाव है। ये तीन गुण हैं। जैसे बन्धनकी रस्सी इकहरी हो तो टूट भी सकती है, लेकिन जब उसे तिहरी कर देते हैं, तब उसमें-से छूटना बड़ा कठिन हो जाता है; वैसे ही ये त्रिगुण भाव हैं।

बहुत-से लोग तामस भावमें पड़े हैं। द्रव्य तामस कार्य हैं। द्रव्यासक्त लोग तामस हैं—

यक्षवित्तः पतत्यधः।

जैसे गड़े खजानेपर सर्प बैठा हो, वैसे ही धन-भवन आदि तामस वस्तुओंमें जो आसक्त हैं, वे द्रव्यासक्त हैं—वे तामस हैं। द्रव्य चाहे शरीर हो या वस्तु, उसमें आसक्त व्यक्ति तामस है।

कई लोग कर्म और भोगमें आसक्त रहते हैं। वे तामस हैं। प्रवृत्ति भी दो तरहकी होती है : बाह्य एवं आन्तर। प्रकाश भी बाह्य एवं आन्तर होता है। समाधिपर्यन्त अन्तःकरणकी स्थिति सात्त्विक भाव है। आलोकाकाशपर्यन्त गतिका भाव राजस भाव है। आलस्य, निद्रा, प्रमाद, भय, रसास्वादन, विक्षेप ये सब तामस भाव हैं।

'मैं शान्त हूँ' यह सात्त्विक भाव है। मैंने इतने बड़े-बड़े काम किये, इतने अस्पताल-स्कूल बनवाये, यह परोपकार किया, इतनी संस्थाएँ बनायीं—यह राजस भाव है। 'हम तो हाथ पर हाथ धर बैठे हैं, हमसे कुछ होने का नहीं'—यह तामस भाव है। इन तीनों भावोंमें-से ही किसी-न-किसीमें लोग फँसते हैं। इनसे ऊपर

उठना बहुत कठिन है। परा-प्रकृति अपरा-प्रकृतिमें भूल गयी और 'पुरुषोत्तम' भूल गया।

सिद्धियाँ सब मनमें रहती हैं। ज्ञान-ध्यान बुद्धिमें रहते हैं। 'मैं शान्त, क्रियाशील या सुस्त हूँ यह सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं।' ईश्वरकी ओर चलना है तो इन सबसे ऊपर निकलना पड़ता है।

मनुष्य वृत्तिको कहीं-न-कहीं भोग या कर्ममें लगाता है या शान्त करके रखता है अथवा आलस्यमें रहता है, पर वृत्तिको छोड़ता नहीं है। चाहिए वृत्तिको छोड़ना—

मद्रूप उभयं त्यजेत्।—भागवत

विषय हैं चित्तमें, चित्त गया विषयमें। तुम मेरे स्वरूपमें एक होकर चित्त और विषय दोनोंको छोड़ दो। दोनों हमारे शरीरमें बाधित हैं।

'मोहितम्'। जगत्के लोग मोहित हो गये हैं, उनकी विवेक-शक्ति खो गयी है। 'मुह् वैचित्त्ये': चित्त ही विपरीत हो गया है। जिधर नहीं जाना चाहिए, उधर जा रहे हैं और जिधर जाना चाहिए, उधर नहीं जाते हैं।

कौन ऐसा है, जिसने इनकी विवेकशक्तिको नष्ट किया? त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः—इन तीन गुणमय भावोंने इन्हें मोहित किया है। ये तीन हैं, गुणमय हैं, भाव हैं। वस्तुतः सत्-चित् आनन्द—ये त्रिपाद सत्य हैं। इनमें विवर्त एक पाद है:

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

सोऽयमात्मा चतुष्पाद्—कहकर विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये तीन पाद और तुरीय चतुर्थपाद—इस प्रकार दो तरहकी बात

कही गयी। एक श्रुतिने कहा कि 'तीन पाद अमृत और एक पाद मृत है' तो दूसरी श्रुतिने कहा—तीन पाद संसारी हैं, एक पाद अमृत है।' यह पादकी कल्पना समझानेके लिए की गयी है। गायके समान परमात्माके चार पैर नहीं होते।

सत्-चित्-आनन्द जो अमृत था, वही मायामयी अवस्थाके सम्बन्धसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ बन गया। विश्व, तैजस, प्राज्ञकी उपाधियाँ ही सत्त्व, रजस्, तमस, बन गयीं। अतएव इन गुणों द्वारा ही बनी वस्तुएँ तीन प्रकारकी ही हैं—सात्त्विक, राजस, तामस। शराब-माँस, प्याज-लहसुन तमोगुणी पदार्थ हैं। मसाले, चटनी, अंचार आदि राजस हैं। दूध, दही, घी सात्त्विक हैं। मनुष्य इनमें फंसे हैं। इनमें-से प्रत्येकको अपने भोजनकी श्रेष्ठताका गर्व है।

एकने कहा : 'हमारे पीछे लोग चलते हैं।'

दूसरेने कहा : 'हम पाँच मिनटमें सारे संसारको मिटा दे सकते हैं।'

तीसरेने कहा : 'हम तो सब छोड़कर बैठे हैं।'

तीनों फँसे हैं। संसारका कोई भाव लेकर 'मैं योगी', 'मैं भोगी' 'मैं रोगी', इस प्रकारसे सब फँसे हैं। कोई रागी बनकर फँसा है तो कोई त्यागी बनकर। सत्त्व, रज या तममें—संसारकी कोई भी विशेषता लेकर लोग फँस गये हैं।

अक्षर जीव क्षरमें फँस गया। 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' यह अपरा प्रकृति है। 'इदं जगत्' यह परा प्रकृति है। 'इदं जगत्'का अर्थ है 'जीव-समुदाय; जगत्में रहनेवाले जीव। जैसे कहते हैं : 'भारतवर्षका यह मत है।' इसका अर्थ होता है : 'भारतमें

रहनेवाले मनुष्योंका यह मत है।' इसी प्रकार 'इदं जगत् मोहितम्'का अर्थ है, जगत्में रहनेवाले जीव मोहित हो रहे हैं। 'मोहितं विवेकरहितम्' वे विवेकशून्य हो रहे हैं।

'नाभिजानाति मामेभ्य. परमव्ययम्' : मुझ पुरुषोत्तमको नहीं जानते। क्षेत्रज्ञ क्षेत्रमें भूल गया और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' विस्मृत हो गया। पराप्रकृति अपरा प्रकृतिमें फँसकर 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' से विमुख हो गयी। अक्षर पुरुष क्षर पुरुषमें उलझ गया और पुरुषोत्तम याद नहीं रह गया। इसीलिये यहाँ 'परमव्ययम्' आया। यह अव्यय पुरुष स्वयं भगवान् हैं।

इन तीनों गुणोंके परे एक अव्यय वस्तु है। वैसे गीतामें संसारको भी 'अव्यय' कहा है :

'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।'

जीवको भी अव्यय कहा है :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

और —

निर्मानमोहा गतसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

भगवान् कहते हैं—'मेरा भाव अव्यय है' : ममाव्ययमनुत्तमम्।

इस तरह परमात्मा, जीव, जगत्, मोक्ष, ब्रह्म, सबके लिये 'अव्यय' शब्द आया है तो कैसे समझें कि अव्ययका अर्थ क्या ?

अतः भगवान् कह रहे हैं : 'एभ्यः परम् अव्ययं मां न अभिजानाति।' इन तीनों भावोंसे परे जो मैं अव्यय हूँ, उसे मनुष्य नहीं पहचानता।

जो बदले नहीं, वह अव्यय है : 'न व्येति विपरीतभावं न गच्छति, स्वरूपेणावतिष्ठते इति अव्ययम्।' जो विपरीत भावको कभी प्राप्त न हो, अपने स्वरूपमें ही रहे, उसका नाम अव्यय है।

कभी उपवास किया, कभी खीर खायी, कभी रूखी रोटी, पर तुम ज्यों-के-त्यों रहे। कभी सोये, कभी जागे, कभी स्वप्न देखा, पर तुम रहे ज्यों-के-त्यों, इसीका नाम अव्यय है। आत्मदेव कभी विपरीत भावको प्राप्त नहीं होते। यह अव्ययात्मा स्वयं भगवान् हैं, पर लोग उन्हें पहिचानते नहीं।

२२. मायाके पार कौन होते हैं ?

संगति :

गीतामें एक स्थानपर **'ममाऽव्ययमनुत्तमम्'** कहा गया है तो दूसरे स्थानपर **'मम भूतमहेश्वरम्'** । भगवान्‌के अव्यय भावको लोग पहचानते नहीं ।

प्रश्न उठता है कि जब परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं तो ये मोहित करनेवाले तीन गुण कहाँसे आगये और उनसे मोहित होनेवाले जीव कहाँसे आये ? गुणोंसे परे भगवान्‌को पहचानना भी कहाँसे आया ? क्या परमात्मा ही मोहित हुआ या उसीने मोहित किया ? क्या परमात्मासे ही अज्ञान है ? यदि परमात्मा इन गुणोंसे परे है तो फिर यह वर्णन तो द्वैतका हुआ ?

एक आचार्य अगले श्लोककी टीकामें बतलाते हैं—कि इसमें निम्न-लिखित पाँच प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं :

'माया किमाश्रया किं विषया किं प्रमाणा किं रूपा केन उत्तरि-तव्याय च ?'

अर्थात् माया किसके आश्रित रहती है ? किसके विषयमें होती है ? मायाके होनेमें क्या प्रमाण है ? मायाका रूप क्या है ? और मायाके पार कैसे जा सकते हैं ? थोड़ेमें इन पाँचों प्रश्नोंके उत्तर और त्रिगुणके सम्बन्धमें की गयी शंकाओंका समाधान भगवान् कर रहे हैं ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

यह गुणमयी दैवी दुरत्यया माया मेरी है । जो मेरी ही शरण लेते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं ।

सारांश, 'मोहित करनेवाली गुणमयी माया है । मोहित होनेवाले जीव भी मायासे ही मोहित हैं । मायासे ही जीव हैं । मायासे ही त्रिगुण हैं । मायासे ही मोह है । इस मायाने ही मेरे सिवा दूसरी वस्तु प्रतीत करा दी है ।'

'भगवान्‌की माया भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है । उस अचिन्त्य शक्तिसे बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते हैं । परमार्थ वस्तुमें उत्पादनकी सामर्थ्यका नाम ही 'माया' है । यह वैष्णव सम्प्रदायों का मत है ।

शांकर सम्प्रदायमें 'माया' का स्वरूप ऐसा नहीं मानते । वे कहते हैं : एक अव्यय परमात्मामें दूसरी वस्तुओंको दिखानेके लिए कल्पित शक्तिका नाम माया है । यह परमात्माकी सहज स्वाभाविक नहीं, अध्यारोपित शक्ति है । यह कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करती, केवल उन्हें परमात्मामें दिखाती है । कल्पना जीवके हृदयमें और परमात्माके स्वरूपके अज्ञानसे ही होती है । जब अज्ञानकी निवृत्ति होगी, तब माया भी निवृत्त हो जायगी ।'

वैष्णव-सम्प्रदायमें मान्यता है कि केवल ज्ञानसे मायाकी निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि वह तो भगवान्‌की शक्ति है, सच्ची है । भक्ति करोगे तो भगवान् उसे हटा देंगे । कर्म करोगे तो उससे विशेषता पैदा होगी । कर्म और भक्तिकी सहायतासे ज्ञान, अविद्या

और मायाको मिटाता है। अतः कर्म एवं उपासनासे समन्वित ज्ञान अविद्या और मायाका निवर्तक है, यह उपासक-मत है।

दैवी ह्येषा गुणमयी : विष्णुपुराणमें कथा है कि प्रह्लादको मारनेके लिए हिरण्यकशिपुने शम्बरासुरको नियुक्त किया। यह वही है, जिसे द्वापरमें प्रद्युम्नने मारा। शम्बरासुरने माया फैलायी। प्रह्लादको लगता कि 'पर्वत उड़-उड़कर मेरे ऊपर गिर रहे हैं, समुद्रमें मुझे डुबाया जा रहा है, आगमें मैं फेंक दिया गया, वायु मुझे सुखा रहा है, आकाश निगले जा रहा है। इस प्रकार शम्बरासुरने बड़ी-बड़ी माया रची। प्रह्लादने भगवान्‌का स्मरण किया तो उनके हृदयमें आकर साक्षात् भगवान् बैठ गये। भगवान्‌ने चक्रको प्रह्लादकी रक्षा करनेकी आज्ञा दी। जो पर्वत आये उसे चक्रने चूर-चूर कर दिया। समुद्र उमड़ा तो उसे सुखा दिया। अग्नि जलाने और वायु सुखाने आया तो भगवान्‌ने उन्हें पी लिया।

शम्बरासुरकी उस मायाको भगवान्‌ने अपने चक्रसे मिटाया। यदि वह माया झूठी होती, वे वस्तुएँ झूठी होतीं तो भगवान् चक्रका प्रयोग नहीं करते। फिर तो प्रह्लाद भगवान्‌को देखते और मायाके खेल स्वयं मिट जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजी कहते हैं : यदि वह माया सच्ची न होती तो उसपर भगवान्‌को चक्र नहीं चलाना पड़ता। अतः माया भी सच्चा संसार बनाती है और उसे मिटानेके लिए भगवान्‌को चक्रका प्रयोग करना पड़ता है। अतः माया भी सच्ची है और माया द्वारा होनेवाला उत्पादन भी सच्चा है। उस मायासे मुक्ति 'भक्तियुक्त ज्ञान'से होती है।

मीयते जगदनया : जिससे जगत् प्रतीत होता है। वह माया

है। अर्थात् जगत्के प्रतीत होनेका जो असाधारण कारण है, उसे 'माया' कहते हैं।

स्वामी रामतीर्थने अर्थ किया है : 'मा' = नहीं, 'या' = जो अर्थात् जो नहीं है।

दैवी : देवकी। यह अर्थ सब लोगोंने माना है कि देवस्येयं दैवी—यह परमेश्वरकी है। यह माया है अर्थात् अघटित-घटना घटन-पटीयसी है। जो घटना साधारण रूपसे घटित नहीं हो सकती, उसे घटित करनेमें निपुणा है।

जो सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंके साथ क्रीड़ा करता है, उसी-का नाम यहाँ 'देव' है। देव अर्थात् जीव। यह जीवोंको फँसाने-वाली माया है अतः इसका नाम 'दैवी' है। इससे व्यवहारकी सिद्धि होती है, अतः दैवी है। इसमें लोग मजा लेते हैं, अतः दैवी है।

व्याकरणमें इस पदकी मूलधातु 'दिवु' है, जिसका अर्थ है : दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न कान्ति-गतिषु।

ह्येषा : प्रत्यक्ष है। माया मनुष्यके अनुभवमें स्पष्ट आती है; पर छूटती नहीं। यह स्त्री-पुरुष, आग-पानी, मिट्टी, हवा आदिके रूपमें प्रत्यक्ष है।

दैवी ह्येषा : पहले दो प्रश्नों 'किमाश्रया किं विषया' का उत्तर है : दैवी किं प्रमाणा? ह्येषा, किं रूपा? इन प्रश्नोंका उत्तर है : गुणमयी दुरत्यया।

माया किसमें है? देवमें : देव कौन हैं? श्रुति कहती है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

वही जो खिलाड़ी है, वही अपने आपमें, अपने आपसे खेल रहा है। अतः यह माया देवाश्रया है। देवविषया है। ईश्वरने ही माया रची है और ईश्वरके ही विषयमें है। ईश्वरको ढँकती है। ईश्वरमें रहकर ईश्वरको छिपाती है।

जथा गगन घन पटल निहारी।
झम्पेउ भानु कहहिं अविचारी॥
देखहिं लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट जुगल ससि तिनके आये॥
उमा राम विषयक अस मोहा।
नभ तम धूरि धूम जिमि सोहा॥

घनच्छन्न दृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।

जैसे मेघ सूर्य किरणोंसे ही बनता है, सूर्य-किरणोंसे ही प्रकाशित होता और सूर्यको ही ढँकता है, वैसे ही माया परमात्मामें ही रहती है, परमात्मासे ही प्रकाशित होती है और परमात्माको ही ढँकती है। ढँकती इसलिए है कि संसार चले, जब लोग दुःखी होंगे तभी भगवान्‌की महिमा समझकर उनका आश्रय लेंगे। 'संक्षेपशारीरक' में कहा गया है :

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

एक निर्विशेष ब्रह्म ही मायाका आश्रय है और विषय भी। वस्तुतः वह न आश्रय है और न विषय। मायाके कारण ही उसमें आश्रयत्व, विषयत्वका विभाग मालूम पड़ रहा है। जो पराक् है, उसका प्रत्यक्‌से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि पूर्वमें

अन्धकार है तो पश्चिम दिशा न उसकी आश्रय है, न विषय। अन्धकार तो पूर्व दिशामें है और उसीको ढँकता है।

'विवरण-प्रस्थान'में अविद्याका आश्रय-विषय दोनों ब्रह्म ही मानते हैं। 'भामती-प्रस्थान'में 'त्वं' पदार्थको अविद्याका आश्रय मानते हैं तो ब्रह्मको विषय। अविद्या किसमें रहती है? जीवमें। 'मैं अज्ञ हूँ।' यह अनुभव होता है। विचार करनेपर भामती-प्रस्थानकी रीतिसे भी 'त्वं' पदार्थ ब्रह्म ही है।

'ह्येषा' : मायाका अनुभव सबको होता है। सब अनुभव करते हैं--'अहं ब्रह्म न जानामि'में देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वको नहीं जानता।

माया : एकबार भीमसेन रातको श्रीकृष्णके गुण गाने लगे। सबकी नींद खुल गयी। सबने कहा : 'भैया' रातको मत गाया करो।'

वे जंगलमें जाकर गाने लगे। गाँवका कुम्हार वहाँ पहुँच गया। भीमने पूछा : 'तुम क्यों आये?'

कुम्हार : 'कहूँगा तो मार डालोगे!'

भीम : 'नहीं मारूँगा।'

कुम्हार : 'मेरा गधा खो गया है। आपका स्वर सुना तो उसे ढूँढ़ने यहाँ आ गया।'

कुम्हार तो कहकर भाग गया; किन्तु भीमको बहुत दुःख हुआ। वे रोने लगे। सहसा श्रीकृष्ण आगये और पूछा : 'भाई भीमसेन! आप रोते क्यों हैं?'

भीमसेनने बतलाया तो श्रीकृष्ण बोले : 'मुझे तो आपका

ध्यान बहुत प्रिय लगता है, तब दूसरोंकी चिन्ता क्यों करते हो ? अच्छा, मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वरदान माँगो।'

भीमसेन : 'तुम अपनी माया दिखा दो।'

श्रीकृष्ण : 'भाई भीमसेन ! मुझे देखो, मायाको क्या देखोगे ?'

भीम : 'तुम्हें तो देखता ही हूँ, तुम्हारी माया कैसी है, उसे दिखा दो।'

श्रीकृष्ण : 'अच्छा, देख लेना।'

अब एक रात भीमसेन रात्रिमें पहरेदारोंकी निगरानी करने निकले। उस समय द्रौपदी युधिष्ठिरके समीप थीं। किसी भूलसे युधिष्ठिरके भवनकी कोई खिड़की खुली रह गयी थी। उस पर दृष्टि गयी तो भीमने देखा कि महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके पैर दबा रहे हैं। भीमको बड़ी चिन्ता हुई—'बड़े भाईने तो द्रौपदीको बिगाड़ दिया। ये महाराज होकर इसके पैर दबा रहे हैं, तब मेरी बारी आने पर द्रौपदी मुझे भी पैर दबानेको कहेगी !'

चिन्तामें भीमसेन दुबले पड़ने लगे। जब वैद्यों द्वारा चिकित्सा करानेसे भी कोई लाभ नहीं हुआ, तो माता कुन्तीने श्रीकृष्णसे प्रार्थना की। एकान्तमें श्रीकृष्णने भीमसे उनकी उदासीका कारण पूछा : भीमने सब बातें बतलाकर कहा : 'यदि मुझसे पैर दबाने-को द्रौपदीने कहा तो मुझे क्रोध आयेगा, मैं उसे मार डालूँगा, फिर भाइयोंमें लड़ाई होगी। यह तो पाण्डवोंके नाशका ही योग आ गया।'

श्रीकृष्ण : 'एक काम करो। नगरसे दूर वनमें एक बड़ा वटवृक्ष है, शामको जाकर उस पर बैठ जाओ। रातभर उसी पर बैठे रहो। देखना क्या होता है।'

भीमसेन जाकर उस वट-वृक्षपर रातमें छिपकर बैठे। देखते हैं कि नीचे प्रकाश हुआ, सजावट हुई, सिंहासन लगे। बड़े भारी दरबारकी तैयारी हुई। सेवकोंका समुदाय जुड़ गया। देवता आने लगे। इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु सब आगये। ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी आये और सब अपने-अपने सिंहासनों पर बैठ गये। सबसे ऊँचा सिंहासन खाली था। भीम सोचने लगे—'ब्रह्मा, विष्णु, शिव आगये, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती आगयीं। यह ऊँचा सिंहासन किसके लिए खाली है?'

थोड़ी देरीमें युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल, सहदेव आये। अन्तमें जब द्रौपदी आयी तो सब उठकर खड़े हो गये। जय-जयकार करने लगे। सबसे ऊँचे सिंहासन पर द्रौपदी बैठ गयी। भीम चौंके, 'यह द्रौपदी आखिर है कौन, जिसे देखकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी खड़े होते हैं?'

अचानक द्रौपदी ने पूछा: 'कौन-कौन आगये? कौन नहीं आया?'

सबकी हाजिरी होने लगी। देवता, ऋषि-महर्षि सब थे। पाण्डवोंका नाम आया तो भीमसेन अनुपस्थित निकले। द्रौपदीको क्रोध आया: 'उसे पकड़ लाओ दण्ड देंगे।'

देवर्षि नारदने बतलाया: 'उस वट-वृक्षकी डालपर भीमसेन छिपा है।'

सेवकोंको द्रौपदीने आज्ञा दी। वे पकड़ने चल पड़े तो मारे डरके भीमसेन नीचे कूद पड़े। कूदने पर देखते हैं कि वहाँ न मैदान है, न सिंहासन, न सेवक, न देवी-देवता। वहाँ कोई नहीं है। लेकिन भीमसेन भयसे काँपने लगे। सोचा—'कहीं भाग चलें। घर जानेपर द्रौपदी पता नहीं, क्या दण्ड देगी।'

भीमसेन चले तो मन्द-मन्द मुस्कराते श्रीकृष्ण सामने आ खड़े हुए और बोले : 'भाई भीमसेन ! क्या बात है ? चकितसे लगते हो, कुछ देखा क्या ?'

भीम : 'जो कुछ देखा, उसकी बात मत पूछो ।'

श्रीकृष्ण : 'इसमें डरनेकी क्या बात है। इसीका नाम तो 'माया' है। माया कहते उसको हैं, जो बिना हुए सब कुछ दिखा दे ।'

जो एक परमात्मामें ही जीव, जगत् तथा जीवको त्रिगुणमय भावसे मोहित दिखा देती है, वह भगवान्की माया है।

× × ×

एकबार देवर्षि नारदने श्रीकृष्णसे कहा : 'प्रभु ! अपनी माया दिखा दो ।'

श्रीकृष्ण : 'देवर्षि ! मुझे देखो, माया देखने योग्य नहीं है ।'

नारद : 'देख लें तो पता तो लग जायगा उसका ।'

भगवान् मुस्कराये। देवर्षिको लेकर चल पड़े। मार्गमें कहा : 'देवर्षि ! मुझे प्यास लगी है, कहींसे जल ले आइये !'

नारदजी जल लेने गये। सरस्वती तटपर पहुँचे तो सोचा कि स्नान करते चलें। डुबकी लगायी तो नारदसे नारदी हो गये। एक केवटसे विवाह हो गया। वर्षों बीत गये। बारह बच्चे हो गये। पति मर गया। विधवा नारदी श्मशानमें रोते-रोते पहुँची। इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण भी पुकारते हुए आगये—नारदजी ! आप जल लेने आये थे न ? कहाँ रह गये ?

नारदको सब स्मरण आगया। बड़ी ग्लानि हुई कि इस रूपमें

भगवान्‌के सामने कैसे जायँ। उन्हें कैसे मुँह दिखायें। वे आत्म-हत्या करनेके विचारसे नदीमें कूद पड़े। उसमेंसे अपने उसी पुरुष-रूपमें निकले। देखा, न बच्चे, न केवटका शव। बोले : 'प्रभु! यह सब क्या ?'

श्रीकृष्ण : 'देवर्षि! आप ही तो माया देखना चाहते थे!'

योगवासिष्ठमें माया सम्बन्धी ऐसी अनेक अद्भुत कथाएँ बहुत हैं। एक शिलामें समूचे ब्रह्माण्डका दर्शन। दो घड़ीमें वर्षोंके कालका दर्शन। भगवान्‌ने देवर्षिसे कहा :

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।

मैं जो तुम्हें दीख रहा हूँ, तुमसे मिलता हूँ, बात करता दीखता हूँ, यह सब भी माया ही है।

श्रीमद्भागवतमें पुरञ्जनोपाख्यान और मार्कण्डेयका प्रलय दर्शनके स्वरूपनिरूपणके उत्तम प्रसंग हैं।

मम माया : यह माया अनिर्वचनीय है। इसका स्वामी मैं हूँ।

गुणमयी दुरत्यया : मायाका रूप क्या है? गुणमयी और दुरत्यय। यह जब जिस रूपमें रहती है, तब गुण मालूम पड़ती है। सत्व, रज, तममें तीन गुण ही इसका व्यावहारिक रूप हैं। 'कारणात्मक' रूप है तीनों गुणोंकी साम्यावस्था और व्यावहारिक रूप है गुणोंकी वैषम्यावस्था।

एकको क्रोध आया। सब जानते हैं : 'क्रोध पापकर मूल। किन्तु क्रोध आया, तब मना करनेवालेसे कहते हैं : 'आज इसे दण्ड नहीं दूँगा तो सदाको रास्ता बिगड़ जायगा।'

तात्पर्य यह कि मनुष्य जब क्रोध करता है तो उसे वह भी गुण लगता है। इसी प्रकार सब दोष उस कालमें गुण लगते हैं। यही मायाका रूप है कि मनुष्य संसारकी परिस्थितिमें जो नाशवान् अनित्य, दुःख रूप है, उन अवस्थाओंमें भी अपने लिये गुण ढूँढ़ लेता है। चोरी, हत्या, झूठमें भी गुण निकाल लेता है—'इसके बिना हमारा काम कैसे चलेगा ?

साधनामें एक 'तुष्टि' नामक स्थिति आती है। अर्थात् 'बस, अब तो पूर्णता हो गयी। इसके अतिरिक्त अब क्या जानना या करना रहा ? भगवान्की ओर चलनेके मार्गमें—वह योग हो, भक्ति हो या ज्ञानका साधन यही तुष्टि माया है। यह विघ्न हैं।

मैं एक बड़े नगरमें गया। देखा—एक वर्गके लोग महात्माओं-को प्रणाम नहीं करते। पता लगा, वे कहते हैं : 'हमारे गुरु इतने बड़े हैं। हम उनके शरणापन्न हो गये तो अब किसीको सिर झुकाने की क्या आवश्यकता ?' यह 'तुष्टि' या अभिमान है।

मायासे छुड़ानेवाले साधन भी मायाके रूप हैं और मायामें फँसानेवाले साधन भी यह सिद्धि तपस्या बनकर फँसाती है। समाधि और दास्य बनकर भी फँसाती है। यह केवल धर्म-कर्ममें ही नहीं, उसके फल स्वर्गादिमें भी फँसाती है। अतएव यह दुरत्यया है, इसको मिटाना कठिन है।

बीचै माया मिली रहे ललचाय के।

चले थे परमात्माकी प्राप्तिके लिए, बीचमें माया मिली तो ललच-कर रह गये।

श्री चांगदेवकी कथा है। उनको सौ वर्षकी आयु मिली थी; किन्तु जब मृत्युका समय आये तो समाधिमें बैठ जायँ तो फिर

सौ वर्ष (आयु) बढ़ जाय। इस प्रकार चौदह सौ वर्षके वे हो गये। शेरपर बैठकर सन्त ज्ञानेश्वरजीसे मिलने आये। ज्ञानेश्वर दीवार पर बैठे थे तो उन्होंने उस दीवारको ही चलनेको कह दिया। अन्तमें उन्हें ज्ञानेश्वरने तत्त्वज्ञानका उपदेश किया।

चांगदेवने समाधिसे मृत्युको १४०० वर्ष रोका; पर मायासे पार नहीं हुए, माया न रोक सके।

'गुणमयी' : संतने कहा है—माया महा ठगिन हम जानी। श्रीमद्भागवतमें आया : 'दोषगृहीत गुणाम्'। दोषभावसे इसने गुण-ग्रहण किये हैं। जैसे वेश्या शृङ्गारकर पैसेके लिए हाव-भाव दिखलाती है उसमें प्रेम नहीं होता, ऐसे ही माया तरह-तरहके रूप धारणकर जीवको लुभाती-फँसाती है। कभी फूल बनकर नाकको खींचती है, कभी व्यंजन बनकर जीभपर आती है, कभी स्पर्श बनकर त्वचाको छूती है, कभी रूप बनती है तो कभी शब्द। कभी सुख-भोग-सम्मानका लोभ देती है तो कभी स्वर्ग ले जाने या समाधिका लालच दिखाती है। यह जीव अपने स्वरूपको न जाने, भूला रहे, इस दोषका अभिप्राय लेकर ही यह गुणमयी हो रही है।

यह माया जब मनुष्यको दुराचारी बनाना चाहती है तो भोगमें और अभिमानी बनाना चाहती है तो सदाचारमें सुख बतलाती है। जब परमार्थज्ञान और जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखसे वञ्चित करना चाहती है तो समाधिमें सुख बतलाती है। यह सत्त्व, रज, तमको लेकर मनुष्यको किसी अवस्थामें सुखी-सन्तुष्ट नहीं रहने देती।

'दुरत्यया' अपने बल-पौरुषसे कोई इसे पार नहीं कर सकता। नदी तब पार की जाती है, जब उसकी धारा एक ओर बहती हो।

माया ऐसी नदी है, जिसकी धारा दोनों ओर बहती रहती है। कभी किनारा एक ओर लगता है तो कभी दूसरी ओर। इस नदीके किनारेका ही पता नहीं लगता।

मम अदुरत्यया ऐसा भी अन्वय है। अर्थात् मेरे लिए इसको पार कर देना कठिन नहीं है। मेरा तो यह एक संकल्प है। ब्रह्ममें कल्पित सृष्टि, स्थिति, नाशके प्रतीत होनेका जो संकल्प हैं, उसी-का नाम माया है।

कभी-कभी मान्यता बड़ा दुःख देती है। उससे पार होना उसे छोड़ना बड़ा कठिन होता है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते : ब्रह्माके घर 'ब्रह्माणी' बैठी, रुद्रके घर 'रुद्राणी' इन्द्रके घर इन्द्राणी बैठी, इस महारानीसे छुटकारा कैसे मिले? मायासे पार होनेका निश्चित उपाय क्या है? भगवान् वह निश्चित उपाय बतला रहे हैं। यहाँ 'एव'का सबके साथ अन्वय करना चाहिए :

'ये माम् एव, प्रपद्यन्ते एव, ते एव, एतां मायां तरन्ति एव'
'ये एव प्रपद्यन्ते, ते एव तरन्ति। ये न प्रपद्यन्ते ते न तरन्ति'

जीव तो बहुत हैं। उनमें जो प्रसन्न होते हैं, वे ही मायाके पार होते हैं दूसरे नहीं।

संसारमें मनुष्यको स्त्री-पुरुषके संयोगसे, भोजनसे, भवनसे, पदसे मजा आता है। यह ऐसा है, जैसे किसीको चन्दन घिसनेको लगा दिया, घिसते-घिसते वह थक जाय तो उसे जरा-सा चन्दन लगानेको दे दें और वह बोले : बड़ा मजा आया।

एक लकड़िहारा लकड़ीका गट्टा लेकर चला थक गया तो गट्टेको सिरसे उतारकर कन्धेपर रख लिया। बोला : 'ओह' बड़ा

मजा आया। इसी तरह परिश्रम करते-करते जब थोड़ा परिश्रम घटता है तो लोग उसे सुख मान लेते हैं।

लोग संसारके कष्टसे छूटनेके लिए पहलवान, सेठ, पुलिस या देवताकी शरण लेते हैं—हे भूत ! हे भैरव ! हमें बचाओ ? लेकिन भगवान्‌की शरण लेनेवाले लोग बहुत थोड़े होते हैं।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण 'माम्' किसे कहते हैं—सगुण-निर्गुण या साकार-निराकार ? गीतामें एक स्थानपर कहा :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् अव्यभिचारी भक्तियोगसे जो 'माम्' मेरी सेवा करता है, वह ब्रह्म हो जाता है। सेवा करेगा 'माम्' की और हो जायगा 'ब्रह्म'। एक स्थानपर कहा है : ब्रह्मको सेवा करो तो हो जाओगे माम् :

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

निर्गुण भी भगवान्‌का 'माम्' और सगुण भी भगवान्‌का 'माम्'। निराकार भी भगवान्‌का 'माम्' और साकार भी भगवान्‌का 'माम्'। अतः इनमें-से कोई रूप हो, पर हो भगवान्‌का।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते' : दूसरेको शरण नहीं।

'प्रपद्यन्ते एव' : प्रपदनके सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं।

वैसे तो 'प्रपत्ति' और 'शरणागति' समानार्थक हैं : पर गीतामें 'प्रपत्ति'में कर्ताकी विशेषता, 'शरणागति'में शरण्यकी (जिसकी शरण ली जाती है उसकी) विशेषता मालूम पड़ती है :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

भिन्न-भिन्न प्रकारकी कामनाएँ ज्ञानका हरण कर लेती हैं, तब अन्य देवताकी प्रपत्ति होती है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

बहुत जन्मोंके बाद कोई ज्ञानवान् होता है और वह मेरे प्रपन्न होता है। इन स्थलोंपर स्पष्ट लगता है कि प्रपन्न होनेवालेकी विशेषता है।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते' यहाँ प्रपत्ति साधनरूपा है, इसलिए अर्जुनने पहले कहा :

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

यहाँ अर्जुन प्रपन्न हुआ। भगवान्‌ने अन्तमें आज्ञा दी : मामेकं शरणं व्रज। इसका अर्थ हुआ कि प्रपन्नम् कहनेके बाद भी अर्जुन पूरा शरणागत नहीं हुआ था।

भगवान्‌की जहाँ आज्ञा या स्वीकृति होती है, जहाँ वे कह देते हैं : 'हाँ तुम मेरे' वहाँ शरणागति होती है। लेकिन जहाँ जीव कहता है : 'मैं तुम्हारा' वहाँ 'प्रपत्ति' होती है।

जबतक अपना बल बना रहता है, तबतक पूरी शरणागति नहीं होती। शरणागतिमें ईश्वरकी प्रधानता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको शरण कहते हैं :

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ—'अपनी बुद्धिकी शरण लो' यह क्या हुआ ? यह अहंकारीका लक्षण है कि अपनी बुद्धिको ही सब कुछ मानकर अन्धा हो गया। दूसरेकी बुद्धिको मानकर अन्धा हो जाना श्रद्धालुका—सत्पुरुषका लक्षण है।

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' यह बात अर्जुनके गले नहीं उतरी तो आगे अठारहवें अध्यायमें बोले—तमेव शरणं गच्छ : उसकी शरण जाओ।

इससे भी अर्जुनको संतोष नहीं हुआ। अन्तमें जब देखा कि अर्जुन न अपनी बुद्धिकी शरण ले रहा है और न बताये हुए परोक्ष ईश्वरकी शरण जाता है, तब बोले :

मामेकं 'शरणं' व्रज।

तब अर्जुनने कहा : करिष्ये वचनं तव।

प्रपत्ति है—'मैंने आपके पैर पकड़ लिये। नहीं छोड़ूँगा।'

शरणागति है—'भगवान् बुला रहे हैं—'आओ! आओ!' मेरे हृदयसे लग जाओ!'

'मामेव' अर्थात् अनन्य निष्ठासे 'प्रपद्यन्ते एव'! शरणागति लो—

तुम तजि और कौन पै जाऊँ।
कैसे दूजे हाथ बिकाऊँ॥

इस तरह 'प्रपद्यन्ते एव' का अर्थ हुआ—दूसरा सब भरोसा—'जप-बल, तप-बल और बाहु-बल' छोड़कर।

श्री रामानुजाचार्यजी महाराजने इसमें तीन भेद बतलाये हैं :

१. कई लोग भजन करते हैं और भगवान्से धन-पुत्रादि—संसार माँगते हैं।

२. कई लोग जप, ध्यान, पूजा-सेवाकी कीमतमें भगवान्को पाना चाहते हैं। अपने बलसे भगवान्की प्राप्ति चाहते हैं।

किन्तु ये दोनों 'प्रपत्ति' नहीं है।

३. प्रपत्ति है कि हमारे पास तो देनेको कुछ नहीं है। आप अपनी कृपासे ही प्रसन्न हो जायँ। प्रपत्ति वह है, जहाँ भगवान्‌के लिए अन्य साधन नहीं होता। भगवान् ही साध्य और भगवान् ही साधन—अनन्योपायसाध्यत्वे। अपनी युक्ति न चले। 'तुम्हारे सिवा कोई सहारा नहीं 'यही भाव हो :

त्वमेव शरणं मम।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने 'मामेव'का अर्थ सगुण-साकार किया है। यहाँ उन्होंने नन्दनन्दन भगवान्‌की सारी व्रजलीलाका वर्णन किया है। कहते हैं : 'निखिल सौन्दर्यसार-सर्वस्व, अखिल रसामृत मूर्ति, गोपीरमण, गोवर्धनधारी अपनी वंशीध्वनिसे समग्र सृष्टिको मोहित करनेवाले कमलदलायतेक्षण। श्री श्यामसुन्दरकी ही जो शरण-ग्रहण करते हैं।'

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखा है : 'अभिनयेन दर्शयति। अर्थात् 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' कहते समय भगवान्‌ने अपनी छाती पर हाथ रखकर संकेत कर अपनेको दिखा दिया।

मायामेताम्। यह माया बड़ी अद्भुत है, दुःखको सुख दिखलाती रहती है। जादूगरका जादू ही तब जब पृथ्वी पर पड़ी वस्तु आकाशमें उड़ती दीखे। पैर से चलता मनुष्य समझे कि मैं सिरके बल चल रहा हूँ।

मायाकी तीन अवस्थाएँ हैं—१. माया, २. भ्रम और ३. इन्द्रजाल। 'भ्रम'में कुछ किया नहीं जाता। उसमें केवल नेत्रोंको ही धोखा होता है। 'इन्द्रजाल'में विचित्र दृश्य फेल जाते हैं। 'माया' कुछ न होनेपर भी सब कुछ सत्यरूपसे दिखलानेवाली होती है। जैसे : कोई मृगतृष्णाके जलमें समुद्र देखे। इस मायाको

तर जानेका अर्थ है, इसका मिट जाना। मायाके चक्करमें न आना।

मम : यद्यपि यह दुरत्यया है, पर मेरी है।

चतुर चिकनियां चुन चुन मारे। लेकिन—

यह दासी रघुवीर की समुझे मिथ्या सोऽपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहौं पन रोपि॥

तरन्ति ते। 'ते एव एतां मायां तरन्ति एव' ऐसे प्रपन्न लोग ही इस दुरत्यया मायाको पार कर ही जाते हैं।

भगवान्‌ने 'तरन्ति'का प्रयोग तैर जानेके रूपमें किया है। जैसे कोई मायाकी नदी बह रही हो और नौकासे उसके पार हो जाय। गीतामें ही अन्यत्र कहा है :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

भक्तिके प्रसंगमें कहा :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ये च स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

यहां भी कहा है :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

दुराचारी-से-दुराचारी भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे पवित्र हो जाता है। या ज्ञानकी नौकापर बैठता है तो सम्पूर्ण पाप-तापसे पार हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें आया है : 'तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्।

मायाका समुद्र है, पर वह सच्चा नहीं, झूठा है। समुद्र झूठा है तो उसमें 'तरन्ति' कैसे होगा ? इसीलिए 'तरन्ति इव' उन्हें लगता है; मानो मैं पार हो गया। पार तो पहलेसे थे, ब्रह्मरूप पहलेसे थे। मायासे पार जाना नहीं होता—चलकर या तैरकर जाना नहीं पड़ता। पार न जानेका जो भ्रम है; वही दूर हो जाता है।

> येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
> सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
> ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
> नैषा ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥
>
> —भागवत

जो भगवान्‌के चरणारविन्दका आश्रय ले लेते हैं, वही मायाको पहचान जाते हैं और मायाको तर-से जाते हैं।

भगवान्‌को दया होती है, तब मनुष्य भगवान्‌की शरण लेता है और शरण लेता है, तब समझ भी जाता है कि यह नदी असली नहीं, नकली है। यह तो जैसे नशेमें लग रहा था कि नदी बह रही है और भगवान् इसके उस पार हैं। नशा उतरा तो नदी है ही नहीं और भगवान् तो पास ही हैं।

सृष्टिमें परमात्मा है, लेकिन भासता नहीं है। प्रपञ्च नहीं है, पर भासता है। प्रपञ्चका सत्यत्वेन भासना और परमात्माका न भासना माया है। परमात्माके न भासनेसे लोगोंने भक्ति और ज्ञान छोड़ दिया। प्रपञ्चके भासनेसे इसमें फँस गये। इस प्रकार भगवान्‌से विमुख करके जो प्रपञ्चमें लगा दे, उसीका नाम हुआ 'माया'।

भगवान्‌की माया क्या है, इस बातको श्रीमद्भागवतमें समझाया गया है—

जैसे आकाशमें दो चन्द्र नहीं होते; किन्तु नेत्र दबाकर देखें अथवा अन्य कारणसे दो चन्द्र दीखें तो दूसरा चन्द्रमा माया है। आकाशमें राहु नामका एक ग्रह है; लेकिन रहनेपर भी वह दीखता नहीं। राहुका न दीखना माया है। जो वस्तु हो और न दीखे या वस्तु न हो और दीखे, उसका नाम माया है।

इस मायासे पार जानेका उपाय है भगवान्‌की शरण-ग्रहण करना। महात्मा लोग एक दृष्टान्त देते हैं :

एक मछुआ मछलियाँ जालमें फँसा रहा था। सब मछलियाँ दूर-दूर भागें और जालमें फँस जायँ। एक मछली मछुयेके पैरके पास ही घूमती रही। मछुआ अपना पैर तो जालमें कभी रखता नहीं था, अतः वह मछली जालमें नहीं फँसी।

यह मायाका जाल जिसने फैला रखा है, उसके चरणोंके पास सट जाओ तो जालमें नहीं फँसोगे।

महात्मा लोग एक दूसरा दृष्टान्त भी देते हैं :

एक माता गेहूँ पीस रही थी। उसमें एक कीड़ा था। चक्की जिस कीलपर घूम रही थी, उससे वह चिपक गया। गेहूँ पिसते गये; किन्तु वह कीड़ा बच गया।

यह मायाकी चक्की जिस धुरी पर चल रही है। उसे पकड़ो तो इस चक्कीमें नहीं पिसोगे।

'माया परेत्यभिमुखे च विलज्जमाना।'

माया भगवान्‌के सम्मुख जानेमें शरमाती है। वह दूर ही दूर अपना काम करती है। अतः जब जीव भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें पहुँच जाता है, तो मायासे उसकी मुक्ति हो जाती है।

श्री मधुसूदनसरस्वतीने शरणागतिकी तीन विधाएँ लिखी हैं : । (१) मैं उसका हूँ, (२) वह मेरा है और (३) जो तुम हो सो मैं हूँ। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इनमें समर्पण, ममता और एकत्व तीनों आजाते हैं। साधनाभ्यासके परिपाकसे इनकी सिद्धि होती है। इन्हींसे वर्तमानमें ही माया-संतरण हो जाता है। यहाँ तरन्ति है संतारिष्यसि नहीं। मधुसूदनसरस्वतीका वह श्लोक है :

तस्यैवाहं ममासौ च त्वमेवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः॥

१२. प्रतिबन्ध निरूपण

संगति :

इस सातवें अध्यायमें पहले संमुखीकरण है। अर्जुनको सुननेके लिए भगवान्‌ने सावधान किया कि कहीं चूकना नहीं।

इसके बाद समग्र ब्रह्मका निरूपण किया। समग्र ब्रह्म-निरूपणकी उपनिषद्के दो भाग हैं : एक अविद्याकी निवृत्तिकी प्रधानतासे और दूसरा, सर्वात्मबोधकी दृष्टिसे। **'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'** पर्यन्त अविद्या-निवृत्तिकी दृष्टिसे निरूपण है और **'रसोऽहमप्सु'** से लेकर **'न त्वहं तेषु ते मयि'** पर्यन्त सर्वात्मबोधका।

इसके बाद बतलाया कि अज्ञान ही प्राणियोंके लिए षड्रिपु है। लोग इसे पहचानते नहीं। **'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः'** यह श्लोक एक प्रकारसे अज्ञान-निरूपणोपनिषत् कहा जा सकता है।

इसके बाद प्रपत्ति-उपनिषद है : **'दैवीह्येषा गुणमयी मम-माया...'**

अब भगवान्‌की प्रपत्तिमें जो प्रतिबन्ध है, उसका निरूपण करते हैं। 'प्रपत्ति-प्रतिबन्धोपनिषत्' है :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

पापी मूढ़, नराधम, माया द्वारा जिनका ज्ञान हरण कर लिया गया है और आसुरी भावके आश्रित लोग मेरे प्रपन्न नहीं होते।

दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते। जो दुष्कृत हैं वे मेरी शरण नहीं आते। 'दुष्कृतानि सन्ति येषां ते दुष्कृतिनः'—पिछले जन्मों और इस जन्मके महान् पाप ही ईश्वरकी शरणमें रुकावट डालते हैं।

पाप भी कई प्रकारके होते हैं: १. अन्यापराध=दूसरोंके प्रति अपराध। २. स्वापराध=अपने प्रति अपराध। ३. भगवद-पराध=भगवान्के प्रति अपराध और ४. भक्तापराध।

अपने व्यवहारमें सावधानी रखें तो अन्यके प्रति अपराधसे बच सकते हैं। स्वापराधसे मनुष्य तब बच सकता है, जब आत्म-शुद्धिकी इच्छा हो। अन्यथा मनमें काम, क्रोध, लोभादि बने रहेंगे। जैसे हम दूसरोंको दुःख पहुँचाते हैं, वैसे ही अपनेको भी दुःख पहुँचाते हैं। दूसरेको दुःख पहुँचाना अपराध है तो अपने आपको दुःख पहुँचाना क्यों अपराध नहीं? ईश्वर तो जैसे दूसरेमें है, अपनेमें भी।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुर निश्चयान्॥

शरीरको क्लेश दे रहे हैं और अपने भीतर बैठे मुझे भी क्लेश दे रहे हैं। इसीलिए कहते हैं कि भगवान्का दर्शन करने जाना हो तो गन्दा कपड़ा पहनकर न जायँ। बिना स्नान किये, बिना प्रसाधनके न जायँ। अपनेको स्वच्छ बनाकर ही जाना चाहिए जिससे भगवान् देखकर प्रसन्न हों। जो मलिन मन लेकर भगवान्के सामने जाना चाहते हैं, वे जा ही नहीं सकते।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

इसीलिए कहा गया है : ओगैरात्मानमात्मनि।

भगवान्की निन्दादि भगवदपराध हैं। भगवान् अन्यापराध, स्वापराध और भगवदपराध भी क्षमा कर देते हैं; किन्तु भक्तापराधको वे क्षमा नहीं करते। भगवान् पता नहीं लगाते कि हमारा किसीने क्या अपराध किया है। इसपर वे ध्यान भी नहीं देते।

एक महात्माने मुझे बतलाया : 'संसारमें कौन क्या कर रहा है और क्या कह रहा है, इसका पता लगाने जाओगे तो अशान्तिके सिवा कुछ नहीं मिलेगा।'

भगवान्ने हृदय-यन्त्र ऐसा बना दिया है कि अपराध करनेवालेके मनमें अशान्ति आ जाती है।

भक्तापराध जैसे : महत्तमापराधको भगवान् क्षमा नहीं करते :

जो अपराध भगत कर करई।
राम रोष पावक सो जरई॥

चोरी, जुआ, अनाचार, डकैती आदि दूसरेके साथ अपराध करना है। मनमें काम-क्रोधादि बसाना अपने आपको ठगाना है। भगवत्संकल्पका तिरस्कार करना भगवदपराध है : इन सबसे ही कठिन है भक्तापराध।

'दुष्कृतिनः' : चार प्रकारके लोग होते हैं—जिनकी संज्ञा 'दुष्कृती' है—१. मूढाः २. नराधमाः ३. माययापहृतज्ञानाः और

४. आसुरंभावमाश्रिताः । ये चतुर्विधाः दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते । जैसे कहा गया है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

अर्थात् 'सुकृती' चार प्रकारके हैं; वैसे ही दुष्कृती भी चार प्रकार के हैं । यह बात श्री केशव कश्मीरीने अपनी टीकामें और श्री रामानुजाचार्य महाराजने अपने भाष्यमें लिखी है ।

मूढाः । पहली बात है मूढ़ भगवान्का भजन नहीं करते । जो 'मूड'के अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करें सो मूढ़ । अर्थात् जो मनमें आया, वही किया । न धन कमानेमें विचार, न भोगमें विचार, न कर्ममें विचार !

कर्म करने, भोगने और संग्रहमें जो धर्मका ध्यान नहीं रखता केवल अपनी वासनाके अनुसार चलता है, वह मूढ़ है ।

कितना भी मारो, पर पशु जब हरी घास देखते हैं, तो मुँह चला ही देते हैं । ऐसे ही विषय देखकर जो अपनेको नहीं रोक पाते, वे मूढ हैं । वे भगवान्का भजन नहीं करते; क्योंकि वे भगवान्के स्वरूपको नहीं जानते । प्राकृत विषयोंमें ही आसक्त हैं । वे तो जानते हैं कि सारा संसार हमारे लिए है और हम भी हमारे लिए हैं ।

ब्रह्माने सृष्टिकी कल्पना ही भगवान्की पूजाके लिये की थी । जब मनुष्य समझने लगता है कि सृष्टि हमारे लिये और भगवान्को भूल जाता है, तो वह मूढ़ हो जाता है—अटक जाता है ।

माताके पेटमें जब बच्चा अटक जाता है तो उसे 'मूढगर्भ' कहते हैं । मूढ़का अर्थ है, ठीक मार्गसे भटक कर अटक जाना । मायाके पेटसे कैसे निकला जाय, यह मार्ग जब जीवको ज्ञात न

रहे, वह भटककर मायाके पेटमें ही अटक जाय तो उसे 'मूढ़' कहते हैं। 'मुह् वैचित्ये—उसके चित्तमें विपरीत भाव आ जाता है।

नराधमाः। शरीर तो मनुष्यका मिल गया, पर मनुष्यता नहीं आ पायी।

> नर तन पाइ विषय मन देहीं।
> पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
>
> कहहु तिनहिं भल कहइ कि कोई।
> गुंजा गहहिं परसमनि खोई॥

दुर्लभो मानुषो देहः मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है; पर वे नर नहीं रहे, नराधम हो गये।

अधमता क्या है? यह मनुष्य-जीवन पाप-पुण्यके बन्धनसे छूटकर भगवान्का भजन करनेके लिए मिला था, पर भगवान्को तो गये भूल और लग गये विषय-भोगमें तो वे नराधम हो गये। ये भी भगवान्की प्रपत्ति ग्रहण नहीं करते।

माययापहृतज्ञानाः कोई-कोई शास्त्रोंके पण्डित भी होते हैं; किन्तु भगवान्की शरण नहीं लेते। मायाने उनके ज्ञानका अपहरण कर लिया। ज्ञान तो था, लेकिन वे वृत्ति और प्रवृत्तिके बीचमें फँस गये वाद-विवाद खूब करते हैं।

कोई कहते हैं :—'शून्य ही है।'

कोई कहते हैं : 'जगत् अनादि है। इसे बनानेवाला कोई ईश्वर है ही नहीं।'

पद्मपुराणमें मायामोह नामक एक असुरका वर्णन है। उसने

४. आसुरंभावमाश्रिताः। ये चतुर्विधाः दुष्कृतिनः मां न प्रपद्यन्ते।
जैसे कहा गया है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

अर्थात् 'सुकृती' चार प्रकारके हैं; वैसे ही दुष्कृती भी चार प्रकार के हैं। यह बात श्री केशव कश्मीरीने अपनी टीकामें और श्री रामानुजाचार्य महाराजने अपने भाष्यमें लिखी है।

मूढाः। पहली बात है मूढ़ भगवान्‌का भजन नहीं करते। जो 'मूड'के अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करें सो मूढ़। अर्थात् जो मनमें आया, वही किया। न धन कमानेमें विचार, न भोगमें विचार, न कर्ममें विचार !

कर्म करने, भोगने और संग्रहमें जो धर्मका ध्यान नहीं रखता केवल अपनी वासनाके अनुसार चलता है, वह मूढ़ है।

कितना भी मारो, पर पशु जब हरी घास देखते हैं, तो मुँह चला ही देते हैं। ऐसे ही विषय देखकर जो अपनेको नहीं रोक पाते, वे मूढ हैं। वे भगवान्‌का भजन नहीं करते; क्योंकि वे भगवान्‌के स्वरूपको नहीं जानते। प्राकृत विषयोंमें ही आसक्त हैं। वे तो जानते हैं कि सारा संसार हमारे लिए है और हम भी हमारे लिए हैं।

ब्रह्माने सृष्टिकी कल्पना ही भगवान्‌की पूजाके लिये की थी। जब मनुष्य समझने लगता है कि सृष्टि हमारे लिये और भगवान्‌को भूल जाता है, तो वह मूढ़ हो जाता है—अटक जाता है।

माताके पेटमें जब बच्चा अटक जाता है तो उसे 'मूढगर्भ' कहते हैं। मूढ़का अर्थ है, ठीक मार्गसे भटक कर अटक जाना। मायाके पेटसे कैसे निकला जाय, यह मार्ग जब जीवको ज्ञात न

रहे, वह भटककर मायाके पेटमें ही अटक जाय तो उसे 'मूढ़' कहते हैं। 'मुह् वैचित्ये—उसके चित्तमें विपरीत भाव आ जाता है।

नराधमाः। शरीर तो मनुष्यका मिल गया, पर मनुष्यता नहीं आ पायी।

नर तन पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
कहहु तिनहिं भल कहइ कि कोई।
गुंजा गहहिं परसमनि खोई॥

दुर्लभो मानुषो देहः मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है; पर वे नर नहीं रहे, नराधम हो गये।

अधमता क्या है? यह मनुष्य-जीवन पाप-पुण्यके बन्धनसे छूटकर भगवान्का भजन करनेके लिए मिला था, पर भगवान्को तो गये भूल और लग गये विषप-भोगमें तो वे नराधम हो गये। ये भी भगवान्की प्रपत्ति ग्रहण नहीं करते।

माययापहृतज्ञानाः कोई-कोई शास्त्रोंके पण्डित भी होते हैं; किन्तु भगवान्की शरण नहीं लेते। मायाने उनके ज्ञानका अपहरण कर लिया। ज्ञान तो था, लेकिन वे वृत्ति और प्रवृत्तिके बीचमें फँस गये वाद-विवाद खूब करते हैं।

कोई कहते हैं :—'शून्य ही है।'

कोई कहते हैं : 'जगत् अनादि है। इसे बनानेवाला कोई ईश्वर है ही नहीं।'

पद्मपुराणमें मायामोह नामक एक असुरका वर्णन हैं। उसने

ऐसी-ऐसी युक्तियाँ दी कि लोग ईश्वरसे विमुख हो गये। ईश्वरकी सत्ता परसे उसने लोगोंकी आस्था हटा दी।]

मानते हैं अपनेको बड़ा विद्वान्, बुद्धिमान् और मायाके कारण ईश्वरको मानते ही नहीं। बड़े-बड़े दार्शनिक हुए हैं—जड़वादी, अनेकान्तवादी, शून्यवादी, बाह्यार्थवादी, उभयार्थवादी। इन्हें ईश्वरने बुद्धि दी थी, पर ये बुद्धि देनेवालेको ही भूल गये।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

—श्रीमद्भागवत

चातुर्वर्ण्यके पिता भी भगवान्, स्वामी भी भगवान् जैसे पुत्र पिताकी, सेवक स्वामीकी सेवा न करे तो अपराधी होता है, ऐसे ही जीव ईश्वरकी सेवा न करे तो अपराधी होता है। लेकिन मायाने ज्ञानका हरण कर लिया। युक्तियों, तर्कों और वाद-विवाद-में पड़ गये। ये भी भगवान्‌के प्रपन्न नहीं होते।

आसुरं भावमाश्रिताः जो आसुर भावके आश्रित हैं—'येषां भगवद्ज्ञानमपि क्लेशाय भवति' यदि वे समझ जायँ कि भगवान् यहाँ हैं तो विरोध करने दौड़ पड़ते हैं। हिरण्यकशिपुको प्रह्लादने बतलाया कि—'मुझमें-तुझमें, खड्ग-खम्भमें भगवान् हैं।'

फल क्या हुआ? वह खम्भेपर चोट करने कूदा। खम्भेपर उसने घूँसा मारा। भगवान्‌की उपस्थितिका ज्ञान उसके लिये द्वेष-का प्रयोजक हो गया।

शिशुपाल, दन्तवक्त्र, रावणादि असुर हैं। वे कहते हैं: 'देवता, ब्राह्मण, वेद, यज्ञ भगवान्‌के भक्त भगवान्‌की उपासनाके साधन हैं तो इन्हें नष्ट करो।'

ये भगवान्‌को मानकर, उनका ज्ञान होनेपर भी उनके विरोधी हैं।

ये चारों प्रकारके लोग दुष्कृती, पापी हैं। पापकी तीन पहचान हैं: १—मनमें पाप करनेकी वासना आना। इससे पता लगता है कि पहले पाप करनेका अभ्यास अधिक था। जिस बातका अभ्यास अधिक था। जिस बातका अभ्यास अधिक होता है, वही बात मनमें बार-बार आती है। जो पूर्वका पापी होता है, उसके मनमें पाप-वासना अधिक आया करती है।

२—जहाँ सुखका प्रसंग हो वहाँ भी दुःखी हो जाना: दुःख पापका फल है। सुख पुण्यका फल है। जो बात-बातमें दुःखी हो जाया करे, उसे पूर्वजन्मका पापी समझना।

३—पापका तीसरा रूप है पाप कर्म होना। जिसे अपने विश्वसनीय व्यक्तिने, गुरुने, शास्त्रने, सम्प्रदायने, समाजने मना कर रखा है कि—'यह नहीं करना चाहिए' वह कर्म करें तो उसका नाम पाप होगा।

पापका फल है दुःख और पापका कारण है, वासना। दूसरेमें नहीं, अपनेमें देखना चाहिए कि पापीका कोई लक्षण अपने भीतर है या नहीं। हो तो उसे निकाल दें। न हो तो भगवान्‌का भजन करें।

पापीका एक लक्षण और है: 'पापी सर्वत्र पापमाशंकते।' जो कुछ दीखता है, उसमें वह पाप होनेकी ही आशंका करता है। सन्ध्या-पूजा-भजन देखकर भी ढोंगकी कल्पना करता है। एक व्यक्ति दान कर रहा है। बोले: 'यह धर्मात्माओंमें अपनी गिनती करा रहा है। फिर देखना कैसे गहरा हाथ मारता है।'

इस प्रकार गुणके, धर्मके काममेंसे भी दोष निकाल लेना पापीका लक्षण है। इसीलिए धर्मात्माका लक्षण बतलाया है :

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

—महाभारत

धर्मका रहस्य वही जानता है, जिसे सब पुण्यात्मा ही दीखते हैं। जिसे सबमें पाप दीखता है, वह पापी है।

कुटिल काक इव सबहिं डराहीं।

पाप वह है, जो भगवान्के भजनमें बाधा डाले। अतः भगवान् भजन न करने वालोंको गाली देते हैं। शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित माधवाचार्यजीने अपने एक व्याख्यानमें कहा: 'भगवान्ने गीतामें १०८ गाली दी हैं।' गीतामें गालियोंकी भी पूरी माला है। भजन न करनेवाले, अपनेसे विमुख पापियोंको भगवान्ने १०८ बार गीतामें गाली दी है।

भगवान् कहते हैं : जो पापी हैं, वे मेरा भजन नहीं करते। जो मूढ़, मोहग्रस्त हैं, वे मेरा भजन नहीं करते। जो नराधम हैं, मनुष्य-शरीर होनेपर भी पशुवत् आचरणशील हैं, वे मेरा भजन नहीं करते। जिन पढ़े-लिखे बड़े विद्वानोंका ज्ञान माया अपहरण कर लेती है, वे मेरा भजन नहीं करते और जिनमें आसुरभाव आ जाता है, वे भी मेरा भजन नहीं करते।' दैवी प्रकृतिवाले भगवान्का भजन करते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

'आसुरं भावमाश्रिताः' में 'आश्रिताः' कहकर भगवान्‌ने एक और व्यंग्य किया है :

केचिन्मामाश्रिता भवन्ति केचिदासुरं भावमाश्रिता भवन्ति।

अर्थात् कोई मेरे आश्रित होते हैं और कोई आसुर भावके आश्रित होना चाहते हैं। तुम किसके आश्रित होना चाहते हो? उदार आशय दैवी सम्पदासे सम्पन्न होकर मुझे अविनाशी जगत् कारणके रूपमें जानते हैं और अनन्य मनसे मेरा ही भजन करते हैं। ●

२३. कौन प्रपन्न होते हैं ?

संगति :

अब चार श्लोकोंमें प्रपत्ति सौकर्योपनिषत् प्रारम्भ करते हैं। अर्थात् भगवद्भजनमें सौकर्य कैसे होता है? यह बतलाते हैं कि चार प्रकारके लोग भगवान्का भजन करते हैं।

इस अध्यायमें चार-चारके वर्गीकरणमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं। जैसे : विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इन चार भेदोंसे परमात्माका वर्णन है। जीव चार प्रकारके माने जाते हैं : पामर, विषयी, साधक और मुक्त। मुक्त ज्ञानी हैं। साधक-मुमुक्षु वे हैं जो मोक्ष-प्राप्तिके लिए साधन कर रहे हैं। विषयी वे हैं जो अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त शास्त्रानुसार भोग भोगते हैं : जो शास्त्र-विरुद्ध भोग-भोगते हैं, शास्त्र विरुद्ध कर्म करते हैं, वे पामर हैं। 'पामर'का अर्थ है पापके मारे हुए। पूर्वजन्म और इस जन्ममें जो पाप किया है, उसके कारण बिचारे मर गये हैं।

जीवित शव सम चौदह प्रानी।

पापी जीवित रहते भी मुर्दा ही माना जाता है।

चार प्रकारके जीवोंमें-से पामर पापके मारे, कृतियोंके चार भेद बतलाये गये हैं :

१. मूढ़ : यानी मोहग्रस्त, ये माया-मोहमें फँसकर बुरे-बुरे काम कर रहे हैं। भोग या आलस्य-निद्रामें पड़े हैं। इन पुरुषार्थ हीनोंको न अर्थ मिलता, न भोग, न धर्म, न मोक्ष। चतुर्वर्गसे जो रहित हैं, वे मूढ़ हैं।

२. नराधम : जो मनुष्य होकर भी मानवतासे विपरीत पशुवद् भोगमें लगे हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ही सर्वस्व मान बैठे हैं।

३. मायया अपहृत ज्ञान : ये नास्तिक हैं, जो प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। ये भी पापके मारे हैं। जो अज्ञानमें पड़े अपनी स्थितिको समझते ही नहीं, वे भी पापके मारे और जो बुरे कर्म और भोगमें लग गये, वे भी पापके मारे।

४. समझ-बूझकर भी ईश्वरके विरोधी : अर्थात् रावणादिकी भाँति जो 'आसुरं भावमाश्रिताः' हैं। ये भी पापके मारे हैं।

क्रोध-प्रधान 'आसुरं भावमाश्रिताः' हैं। विपरीत बुद्धि-प्रधान 'माययापहृतज्ञाना' हैं। भोग—कामप्रधान नराधम हैं। और जो मोहमें पड़े 'मूढ़' हैं। ये चारों पामर हैं। श्रीमद्भावतमें आया :

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्।

पशुघ्न = आत्मघाती। इन्हीं चार प्रकारके पामरोंने, जिन्हें अपने पैर पर आप कुल्हाड़ी मारनेवालोंको कहा गया है, अपना जीवन नष्ट कर दिया है।

अब बचे तीन प्रकारके लोग—विषयी-मुमुक्षु और मुक्त। इनमें-से अगले 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' श्लोकमें विषयीके दो विभाग कर दिये : आर्त्त और अर्थार्थी। एक मुमुक्षु और एक मुक्त।

मूढ़ : नराधम माययापहृतज्ञाना और आसुरं भावमाश्रिता। ये

चारो 'दुष्कृतिनः' हैं और ये भगवान्‌का भजन नहीं करते। वैसे भग-वान्‌का भजन करनेवाले चारो—आर्त जिज्ञासु-अर्थार्थी और ज्ञानी 'सुकृतिनः' हैं। ये चारों पुण्यात्मा हैं।

'मूढ़'के प्रतिकूल 'आर्त' है। मूढ़में ज्ञान ही है, होश नहीं है, जबकि आर्त होशमें है, इसीलिए विपत्तिसे बचनेके लिए वह भगवान्‌की शरण लेता है। 'नराधम'के प्रतिकूल 'जिज्ञासु' है। नराधम भग-वान्‌को भूलकर भोगोंमें लगा है तो जिज्ञासु भोगोंको छोड़कर भगवान्‌को जानना चाहता है। 'माययापहृतज्ञानाः'के प्रतिकूल 'अर्थार्थी' है। माययापहृतज्ञानाः तो ईश्वरकी सत्ता ही नहीं मानता, जबकि 'अर्थार्थी' भगवान्‌की सत्तामें पूरा विश्वास कर उससे अपना अर्थ चाहता है। 'आसुरं भावमाश्रिताः' तो परमात्माको मानकर उसके प्रतिद्वन्द्वी हो गये जबकि ज्ञानी परमात्मासे एक होकर बैठे हैं :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकारके पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं : आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

अर्जुन। अर्थात् तुम सरल हो, सुकृती हो। तुमने खूब पुण्यार्जन किया है। पूर्वजन्मके पुण्यों एवं इस जन्मके पुण्यानुष्ठानसे सम्पन्न हो। तुम्हारे हृदयमें मेरी भक्ति है। भगवान्‌ने अर्जुनको प्रमाणपत्र दिया है :

'भक्तोऽसि मे सखा चेति' 'इष्टोऽसि मे दृढ़मिति।'

उद्धवजीको भी श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने प्रमाणपत्र दिया है : 'त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा।'

'अर्जुन' शब्दका वही अर्थ है जो 'धनञ्जय' शब्दका अर्थ है—अर्जनशील अर्जुन। लेकिन श्री नीलकण्ठजीने महाभारतकी अपनी टीकामें अर्थ किया है : 'ऋजुत्वादर्जुनः।' अर्जुन सरल है। हृदयमें कोई छल-कपट नहीं।

'सुकृतिनः। ये पुण्यात्मा हैं। विषयी होकर जो शास्त्रानुसार कर्म करके भोग-भोगते हैं, उनके दो विभाग हैं : १. अपने सहारे कर्म करना और भोग भोगना। २. भगवान्के सहारे कर्म करना और भोग भोगना।

जो अपने बल-पौरुषसे अपना कर्तव्यपालन करता और भोग भोगता है, वह राजस है। तामस तो पामर है। जो भगवान्के सहारे भोगप्राप्त करता है, वह सात्त्विक है।

एक सज्जन वृन्दावन आये। बोले : 'मेरे मनमें जलेबी खानेकी बड़ी इच्छा है; किन्तु भगवान् अपने हाथ से खिलायेंगे, तभी खायेंगे।'

दो-चार दिन व्रजमें रहे। बड़े क्षुब्ध हुए : 'हम व्रज आये और व्रजकुमार हमें जलेबी तक नहीं देते।'

यमुना स्नान कर रहे थे तो पानीमें जलेबी बहती दीखने लगी। मन डिग गया। बोले : 'जब यमुनामें जलेबी बहकर आ रही है तो भगवान् ही अपने हाथसे दे रहे हैं।' उठाकर खाने लगे। यदि वे अपने हाथसे उठाकर न खाते तो भगवान् अपने हाथसे उनके मुँहमें डालते।

एक सज्जन वृन्दावन आये। मन-ही-मन संकल्प किया। 'हम भोजन तब करेंगे, जब कोई कहेगा कि मुझे भगवान्ने तुम्हें भोजन करानेकी आज्ञा दी है।'

वंशीवट पर जाकर वे बैठ गये। एक दिन, दो दिन बीत गये। आनेवाले उनसे भोजन करनेको कहते पर वे मना कर देते थे। तीसरे दिन श्री कोकिल साईंने चावल बनवाया और लेकर वंशीवट गये। उनके सामने रखकर बोले : 'भगवान्‌ने मुझे आज आज्ञा दी है कि हमारा भक्त वंशीवटपर भूखा बैठा है, उसे खिलाओ। तब मैं यह लेकर आया हूँ। आपकी मौज खानेकी हो तो खाओ।'

कोई जान-पहचान पहलेकी नहीं थी। एक यह भी भोजन है और एक कहीं भी खा लेना है। एक कहता है : 'अपने पुरुषार्थ-से कमाकर खायेंगे।'

चाहे जहाँ खा लेनेवाला 'तामस' है। अपने पुरुषार्थसे कमाकर खानेवाला 'राजस' है। 'सात्त्विक' वह है जो कहता है—'भगवान्‌की कृपासे रोटी मिलेगी, तब खायेंगे।'

आर्त और अर्थार्थी ये दोनों हैं तो विषयी; किन्तु साधारण विषयी नहीं। आर्त वह है जिसपर विपत्ति आयी तो भगवान्‌से कहता है : 'प्रभु, इस आपत्तिसे छुड़ा दो!' और विश्वासपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है।

अर्थार्थी वह है, जो कहता है : 'स्वामी! मुझे अमुक वस्तु चाहिए! आप कृपा करके दे दो।'

दुःखको छुड़ाने मात्रकी भगवान्‌से कामना करनेवाला आर्तभक्त है और किसी वस्तुको पानेकी इच्छा कर भगवान्‌का भजन करने-वाला अर्थार्थी भक्त है। 'जपबल, तपबल और बाहुबल,' नहीं—भगवान्‌का ही बल है—उन्हींसे चाहते हैं।

आर्त संकट दूर करनेके लिए भी राजाका, किसी अधिकारी

का आश्रय नहीं लेते। देवी-देवताको नहीं पुकारते। पत्नीको दुःख हो, रोग हो या साड़ी—कंघे की आवश्यकता हो और वह पतिसे न बतलाये पड़ोसीसे माँगे तो यह भी निष्ठाकी कमी है। यह भक्त वह है, जो संकट आनेपर दूसरेसे सहायता करनेको नहीं कहता। भगवान्से ही सहायता मांगता है।

जब हम सकाम अनुष्ठान करते हैं तो हम जिस वस्तुको चाहते हैं, वही ध्यानमें आती है या भगवान् आते हैं? कोई धनके लिये, विवाहके लिए या जेल से छूटनेके लिए भगवान्का भजन करे और उसे मालूम पड़े कि 'मैं जेलसे छूट गया, रुपये बरस रहे हैं या विवाह हो गया' तो समझना कि अनुष्ठान सफल नहीं होगा। यदि उसे धन, विवाह या जेलसे छूटना भूल जाय और वह भगवान्की प्रार्थनामें तन्मय हो जाय, मनमें आने लगे: 'पैसा मिले या न मिले, विवाह हो या न हो, जेलसे छूटें या न छूटें, अब तो हमें भगवान्का भजन ही करना है, तो समझें कि इष्ट प्रसन्न है और सफलता मिल जायगी। यह मैंने बहुत कठिन स्थितियोंके सकाम अनुष्ठानोंमें देखा है।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके स्वप्नेश्वर भाष्यमें भक्तोंके दास्य भाव बतलाते हुए एक भावकी व्याख्यामें कहा है: 'केवल अपने इष्टदेवसे ही अपनी इच्छा प्रकट करो। दूसरेके सामने इच्छा प्रकट ही नहीं करो।'

इसमें दृष्टान्त रूपमें उपमन्युकी कथा दी है। उपमन्यु शिवाराधन करते थे।

इन्द्रने आकर कहा: 'वरं ब्रूहि।'

उपमन्यु बोले: 'आप कैसे पधारे? हमें वरदान मांगना होगा तो अपने नीलकण्ठ प्रभुसे मांगेंगे।

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शंकराज्ञया।
नहि तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कांक्षये॥

इन्द्र! तुम्हारे बनाये तो इन्द्र भी नहीं बनूँगा और मेरे इष्टदेव बनायें तो चींटी भी बन जाऊँगा।'

इसमें इन्द्र या चींटो की विशेषता नहीं, विशेषता है बनानेवालेके हाथकी। हमें गढ़ेगा कौन? ईश्वर जैसा बनायेगा, बनेंगे। दूसरा कारीगर हमें नहीं चाहिए।

वस्तु-प्राप्तिके लिये अर्थार्थी होता है तो संकट-निवारणके लिए आर्त। किन्तु दोनों ही भगवान्‌को छोड़कर दूसरेके सामने हाथ फैलाने वाले—हाथ जोड़नेवाले नहीं हैं।

अब मुमुक्षु रहा। उसे यहाँ 'जिज्ञासु' कहा है। जिज्ञासुको ज्ञान चाहिए। कई भक्त कहते हैं: 'ज्ञान तो चाहिए, पर भगवान् प्रकट होकर उपदेश करें तभी चाहिए।'

भागवतमें राजा बहुलाश्व जिज्ञासु हैं। मिथिला-नरेश बहुलाश्व और वहींके पण्डित श्रुतदेव, दोनों जिज्ञासु हैं। देवहूति जी भी जिज्ञासु हैं। ये जिज्ञासु भक्त हैं। ज्ञानी भक्तका वर्णन गीताके बारहवें अध्यायमें है:

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

—१२.१३-१४

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें इन चारों प्रकारके भक्तोंका विवेचन किया है। भगवान्‌ने 'उदाराः सर्व एवैते' कह दिया, जब कि एक

लौकिक कष्ट-निवारणको चिल्ला रहा है। एक सांसारिक पदार्थ माँग रहा है। एक भगवत्तत्त्वका ज्ञान चाहता है। एक तृप्त-पूर्ण होनेपर भी निष्काम भक्ति कर रहा है। तब क्या—'सोरहो धान बाइस पसेरी ?'

शाण्डिल्य ऋषि इसका समाधान करते हैं :

गौणं त्रैविध्यमितरेण श्रुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्।

इनमें-से तीन भक्त आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी गौण हैं और जो चौथा ज्ञानी भक्त है, उसका नाम इनके साथ स्तुत्यर्थक है। जैसे कहते हैं : 'ये राजा जा रहे हैं।' राजाके साथ मन्त्री, सैनिक, सेवक सब होते हैं और उनका भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ ज्ञानी नित्य भक्त है। उसके साथ आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु का वर्णन गौण रूपसे है।

प्रह्लाद ज्ञानी भक्त हैं। अर्जुन जिज्ञासु भक्त हैं। वे कहते हैं :—

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते।

'तुम्हारे सिवा इस संशयको और कोई काट नहीं सकता।' यह अर्जुनका विश्वास है। इतना विश्वास अपने गुरुपर होना चाहिए।

द्रौपदी आर्त भक्त है। उसके लिए भगवान्का वस्त्रावतार हुआ। भगवान् साड़ी बने। गजेन्द्रने पुकारा : 'गोविन्द !' इसमें-से 'गो' अक्षर वैकुण्ठमें कानमें पड़ा और 'विन्द' तो गजेन्द्रपर दृष्टि पड़नेपर कानतक पहुँच सका। महाभारतमें आया है :

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥

अर्थात् चार प्रकारके भक्त कहे गये हैं, उसमें जो भगवान्के एकान्त भक्त हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे दूसरेको अपना आराध्य नहीं मानते—

अमानित्व, अदम्भित्वादि ज्ञान-सम्पत्तिसे युक्त जो है, वह श्रेष्ठ है।

सुकृतिनः। ये सब-के-सब पुण्यके भेजे हैं। जैसे दुष्कृतने भगवान्से विमुख किया, वैसे सुकृतने भगवान्के सम्मुख भेजा।

दुःख तो भक्तपर भी आता है और अभक्तपर भी। लेकिन जब अभक्तपर दुःख आता है तो वह मूढ़ बनकर बैठ जाता है, बुरे काम करने लगता है या कहता है: 'ईश्वर नहीं है।' लेकिन भक्त दुःख आनेपर ईश्वरकी ओर देखता है: 'यह मेरे प्रभुका भेजा है।' दुःख मत देखो, दुःख देनेवालेका हाथ देखो।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ 'ज्ञानी च भरतर्षभ' में 'च' को पकड़ा। बोले: 'इसमें एक भक्त और है और वह है। 'प्रेमी च' से अपने सुख-स्वार्थको न चाहकर, अपने ऊपर करोड़-करोड़ दुःख लेकर भक्ति करनेवाला प्रेमी है।' यदि शंका भी हो कि इस कामसे उन्हें दुःख पहुँचेगा और उसके न होनेपर अपनेको दुःख-समुद्रमें डुबा देना पड़ेगा, तो वह अपनेको डुबा देगा। वे कहते हैं:

भक्त्यात्वनन्ययाशक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।

यहाँ जिस अनन्यभक्तकी चर्चा भगवान्ने की है, उसका संकेत इस स्थानपर 'च' से ग्रहण करना चाहिए।

'चतुर्विधा भजन्ते माम्': कुछ लोगोंकी मान्यता है कि जो मुक्ति चाहें वे भगवान्का भजन करें। पर जो धन चाहें, भोग चाहें, कष्टसे छूटना चाहें, वे भगवान्का भजन क्यों करें?

दूसरा प्रश्न है : जब सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है, तो ईश्वरकी भक्तिका क्या उपयोग ? इससे तो द्वैत-भावकी वृद्धि होती है।

तीसरा प्रश्न है : जब ज्ञान हो गया, तब भगवान्‌का भजन क्यों ?

एक बात तो यह है कि जो लोग भगवान्‌को केवल मुक्तिदाता समझते और मानते हैं कि और कुछ भगवान् नहीं दे सकते, वे भगवान्‌की शक्ति एवं उनकी कृपाको ठीक नहीं समझते। बेईमानी, झूठके आश्रयसे तो धन कमायेंगे, घूस देकर संकटसे बचेंगे; किन्तु देवताके आश्रयसे, भगवान्‌के आश्रयसे, भगवान्‌की पूजा-प्रार्थनासे धन, भोग या संकटसे परित्राण नहीं चाहेंगे, यह पतनकी बात है।

किसी लड़कीकी सगाई हुई। विवाहके पहले वह भावी पतिसे मिलकर या पत्र लिखकर रुपया माँगे या किसी कामको कहे तो अनुचित है। किन्तु विवाह हो जानेपर आवश्यकता पड़े तब पतिसे न माँगेगी तो कहाँ जायगी ? ऐसे ही जिनका भगवान्‌से दृढ़ सम्बन्ध नहीं हुआ है, वे तो उनका निष्काम भजन भले करें। किन्तु जिनका सम्बन्ध दृढ़ हो गया है, वे अपनी आवश्यकता निवेदन करने और कहाँ जायँगे ?

भगवान् तो क्षीर-सागरमें बैठे हैं। लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, कामधेनु, चिन्तामणि लेकर बैठे हैं। उन्हें किसीको कुछ देनेमें क्या कष्ट होना है ?

जैसे नौकर अपनी आवश्यक वस्तु स्वामीसे न माँगकर किसी दूसरेसे माँगे तो समझना होगा कि उसका विश्वास अपने स्वामीकी उदारतामें नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌के अतिरिक्त और कहीं माँगना है। सम्बन्ध न होनेपर तो सकामता अपराध है, पर

सम्बन्ध हो जानेपर तो निष्कामता ही प्रेम न होनेका सूचक है। भगवान्‌के प्रति सकाम होना अपराध नहीं है।

संसारी वस्तुके प्रति कामना होना छोटी बात है, यह ठीक है। जो चिन्तामणि दे सकता है, वह मिट्टीका बर्तन दे सकता है या नहीं? जो अमृत पिला सकता है, वह पानी पिला सकता है या नहीं? भगवान् काँजी भी पिला सकते हैं और अमृत भी। देवता लोग और संसारी पुरुष काँजी तो पिला सकते हैं, अमृत नहीं। भगवान्‌के सम्बन्धमें सोचना कि वे अमृत भले पिला सकते हों, काँजी नहीं दे सकते, सर्वथा भ्रान्त धारणा है।

जब सब भगवान् ही हैं तो भक्तिका प्रयास कौन करेगा? इसका उत्तर है कि सब सम होनेपर भी तुम क्या संसारमें सबके साथ समताका ही व्यवहार करते हो? सब ब्रह्म है तो मुक्तिके लिए बकरेकी, गधेकी या भैंस की पूजा करोगे? नहीं। बकरे, गधे या भैंसकी पूजा नहीं की जायगी। पूजा गायकी ही होगी; क्योंकि सबके ब्रह्म होनेपर भी गायकी उपाधि उत्तम है और बकरे, गधे या भैंसकी उपाधि उत्तम नहीं है। उपाधिकी श्रेष्ठतासे पूजा होती है। पूजा विद्या, तपस्या, त्याग, सद्‌गुणकी उपाधिसे होती है। अतः सब भगवान् होनेपर भी जहाँ उन्होंने अपनी सर्वोत्तम उपाधि धारण कर रखी है, उस उपाधिकी प्रधानतासे भगवान्‌की पूजा करनेमें द्वैतकी बात कहाँ आती है?

ज्ञानी भजन क्यों करते हैं? उनका क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न करनेवाले लोगोंकी धारणा बन गयी है कि बिना प्रयोजन कोई भजन नहीं करता यही भ्रान्ति है। इस धारणाका तो अर्थ है कि निष्काम भाव कोई तथ्य ही नहीं।

ज्ञानी लोग बिना प्रयोजन ही भजन करते हैं। ज्ञानीकी भक्तिकी विशेषता ही यही है कि वे बिना प्रयोजन भक्ति करते हैं।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाऽप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
आत्मारामाश्च मुनयो निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

—भागवत

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।

—मधुसूदन सरस्वती

अहैतुकी भक्ति ज्ञानियोंका स्वभाव ही होता है। वे बोलते हैं तो भगवान्‌की चर्चा करते हैं। कुछ करते हैं तो भगवान्‌के लिए। देखते हैं तो भगवान्‌को।

'चतुर्विधा भजन्ते माम्' : आर्त-आर्ति-निवृत्तिके लिए, जिज्ञासु चित्त शुद्धिके लिए, अर्थार्थी अर्थ-सिद्धिके लिए और ज्ञानी सहज भावसे बिना किसी प्रयोजनके भगवान्‌का भजन करते हैं। ये चारों सुकृती हैं। यदि पूर्वजन्मके पुण्यात्मा न होते तो भजनमें इनकी प्रवृत्ति ही न होती।

आर्त : वैराग्य प्रधान लोग, जिन्हें संसारमें सर्वत्र दुःखका अनुभव होकर यहाँसे वैराग्य होता है, वे भजन करते हैं। यह वैराग्य पुण्यका फल है।

जिज्ञासु : जो परमात्माकी प्राप्तिके लिए अपने चित्तको शुद्ध करना चाहते हैं, ये भी पुण्यात्मा हैं।

अर्थार्थी : जो समाधि लगाना चाहते हैं—वस्तुनिष्ठ होना चाहते हैं।

ज्ञानी : जिन्हें साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है।

आर्त : गजेन्द्रको जब ग्राहने पकड़ लिया तो वह आर्त हो गया। पुकारा : 'प्रभु, मुझे बचाओ!' द्रौपदीको भरी सभामें जब नग्न किया जाने लगा तो वह आर्त हो गयी। 'दौड़ो, द्वारिकेश!'

जिज्ञासु : महाराज जनक, राजा रहूगण।

अर्थार्थी : जैसे ध्रुव।

ज्ञानी : उद्धव, प्रह्लाद, सनकादि कुमार, नारद, भीष्म आदि ज्ञानी भक्त हैं।

ये चारों प्रकारके भक्त भगवान्का भजन करते हैं।

वृन्दावनके साईं भक्त कोकिल जीने इस श्लोकका अपने ढंगका एक अर्थ किया था :

रासलीलामें भगवान् अदृश्य हो गये, तब—

अपश्यंस्तमचक्षाणा करिण्य इव यूथपम्।

गोपियोंके हृदयमें बहुत बड़ी पीड़ाका उदय हुआ। श्रीकृष्ण दर्शनके बिना वे व्याकुल हो गयीं :

हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे।

उस समय गोपियाँ आर्त हो गयीं।

जब वे प्रेम-विह्वल होकर ढूँढ़ने निकलीं :

पृच्छमाना लतास्तरून्।

लताओंसे-वृक्षोंसे पूछ रही हैं—'कहाँ हैं कृष्ण! कहाँ हैं कृष्ण!' तो इस समय वे जिज्ञासु हैं।

जब यमुना किनारे बैठ गयीं और गोपी-गीत गाने लगीं :

वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्।

तब वे अथार्थी हैं। उन्हें चाहिए श्रीकृष्णका संयोग।

जब भगवान् मिल गये—किसीने उनका हाथ पकड़ा, किसीने चरण पकड़ा, तब वे ज्ञानी हैं।

इस प्रकार वर्णन कर भक्त कोकिल कहते हैं: 'गोपियोंके जीवनमें जैसे चार अवस्था है, वैसी अवस्था हमारे जीवनमें भगवान्के लिए आये।'

भगवान्ने ये जो चार प्रकार के भक्त बतलाये, उनमें यह विशेषता समान है कि चारों सुकृती हैं।

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती चारेउ अनघ उदारा॥

उदाराः सर्व एवैते। चारो उदार हैं। वह पुण्य ही क्या जो भगवान्में न लगाये। चारों ही भगवान्के जन हैं। चारोंको भगवान् अपना ही मानते हैं। चारों ही दूसरेका सहारा नहीं लेते।

आर्त: इसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दीखता है:

परिणामतापसंस्कार दुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेवसर्वं विवेकिनः।

विचार करके देखें तो संसारमें जो सुखके रूपमें मालूम पड़ता है, वही दुःखका बीज है; क्योंकि उसके बाद दुःख ही आयेगा। जिस दिन जन्म होता है, उसी दिन मृत्युका समय निश्चित हो हो जाता है। संसारकी वस्तुओंमें नाश, संयोगोंमें वियोग, जन्ममें मृत्यु, सुखमें दुःख लगा है। संसारमें दुःख देखकर वैराग्य होकर

जो भगवान्का भजन करते हैं, ये वैराग्य प्रधान होनेसे आर्त हैं। संसार गति-मृति रूप है, उससे जो ग्रस्त है, वह है आर्त।

जिज्ञासु : जिज्ञासु भगवान्को ढूंढ़ रहा है कि यह सत्ता है, यह ज्ञान है, यह आनन्द है, यह ऐश्वर्य है—यह सब जिसका है, वह कैसा है? भगवान्की विशेषताओंको ध्यानमें रखकर जो उन्हें जानना-पाना चाहते हैं, वे जिज्ञासु हैं। उन्हें अपने दुःख-सुखकी चिन्ता नहीं है। भक्त कहते हैं—'हम अपने दुःख, दोषको देखने-गिनने लगेंगे तो उनका अन्त ही नहीं होगा। अतः अपनी ओर और संसारकी ओर क्या देखना। अचिन्त्य अनन्त गुणगण-निलय सौन्दर्य-माधुर्य-धाम भगवान्की ओर ही देखना और उसीके अनुसन्धानमें लग्न रहना।'

अर्थार्थी : केवल भगवान्का दर्शन चाहता है। अर्थ संसारमें और कुछ नहीं है। श्रीमद्भागवतमें कथा है कि नलकूबेर-मणिग्रीवको नारदजीने शाप दिया। उस समय कहा गया : तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन् इसका अर्थ श्रीधरस्वामीने किया है : अनुग्रहः स्वधर्माविर्भावः अर्थः श्रीकृष्णप्राप्ति! एक तो हमारा धर्म-भागवत धर्म (नारदजीका) इनके हृदयमें प्रकट हो, यह अनुग्रह है और इन्हें भगवत्प्राप्ति हो—यह अर्थ है। अतः अर्थार्थीका अर्थ है भगवत्प्राप्ति चाहनेवाला।

ज्ञानी : जिसे भगवान् मिल गये। वह भगवान्को भी चाहता नहीं है। वह तो अचाह पदमें स्थित है। उसे कुछ नहीं चाहिए। भगवान्की क्रियासे अलग उसकी क्रिया नहीं। भगवान्के संकल्पसे अलग उसका संकल्प नहीं। भगवान्के ज्ञानसे अलग उसका ज्ञान नहीं। भगवान्के स्वरूपसे अलग उसका स्वरूप नहीं। वह भजन करता है निष्प्रयोजन।

भविष्यपुराणमें एक जगह चार प्रकारके भक्त गिनाये हैं : १. आर्त, २. रौद्र, ३. धन्य और ४. शुक्ल।

आर्त : जिस पर दुःख आता है तो छटपटाता नहीं। भगवान्से कहता है : 'बचाओ।'

रौद्र : संसारमें नाश हो, प्रलय हो, इसका उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। वह भगवान्के रौद्र रूपका ध्यान करता है।

एक महात्माने बतलाया : 'मनमें कामवृत्तिका उदय हो तो भगवान्के रौद्र रूपका ध्यान करना चाहिए। नृसिंह और प्रलयंकर शिवका ध्यान करो। इससे काम नष्ट हो जाता है।

धन्य : जो कुछ भी चाहिए, उसे प्राप्त करनेके लिए जो भगवान्का ही भजन करते हैं। यहाँ गीतामें इन्हें अर्थार्थी कहा गया है।

शुक्ल : निष्काम भजन करनेवाले, ज्ञानी।

संगति :

अब भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं :

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

इनमें ज्ञानी विशिष्ट है। वह नित्ययुक्त, एकभक्ति है। ज्ञानीको मैं निरुपाधिक प्रिय हूँ और मुझे भी वह प्रिय है।

इन चारों भक्तोंमें ज्ञानी विशिष्ट है। ज्ञानी भक्त हैं—बालवत् रहनेवाले सनकादि, संगीत-प्रिय नारदादि, सेवाप्रिय हनुमानादि, प्रह्लादादि नैष्ठिक।

भगवान् जब देखते हैं कि यह धर्म और योगका साधन करके

अपना अन्तःकरण शुद्ध कर चुका, विद्याद्वारा अविद्यामल निवृत्त कर चुका, फिर भी इसका हृदय भक्तिसे भरपूर है तो भगवान् सोचते हैं—'इसे क्या दें ? अपनेको तो दें ही क्या; क्योंकि अपना आपा तो उसका स्वरूप ही है।'

जिससे मनुष्य उऋण नहीं हो सकता, उसे क्या दें ? उसे प्रेम देना, उससे प्रेम करना। अतः भगवान् जब अपने ज्ञानी भक्तसे उऋण नहीं हो पाते तो उससे प्रेम करते हैं। वह धर्म कर उसका फल अन्तःकरणशुद्धि पा चुका है। अर्थ और काम उसे चाहिए ही नहीं और मोक्ष उसका स्वरूप ही है। अतः भगवान् उससे प्रेम करते हैं। उसकी विशेषता बतलाते हैं : नित्ययुक्तः एकभक्तिः।

श्री वल्लभाचार्यजी महाराजने स्पष्ट लिखा है कि भक्तोंमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है।

'नित्ययुक्तः' : ज्ञानीके अतिरिक्त दूसरा कोई नित्ययुक्त हो ही नहीं सकता। यद्यपि भक्तकी महिमा ही यह है कि वह नित्ययुक्त हो। अर्जुनने बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रश्न किया है :

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

भगवान्ने उत्तर दिया :

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

यहाँ भी भक्तका लक्षण भगवान्ने नित्ययुक्त ही बतलाया। नित्ययुक्त तो ज्ञानी ही हो सकता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः। भजन-सेवा करनेवालोंमें ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है। लोकमें यह बात समझनी हो तो मान लें, एक मनुष्य प्रेमी, पर नासमझ है। वह सेवा, प्रेम करेगा तो कष्ट ही देगा।

पंचतन्त्रमें कथा है : एक बन्दर राजाने पाला था। वह राजासे बहुत प्रेम करता था। राजा सो गया। बन्दर पहरा देने लगा। बन्दरने देखा कि राजाके शरीरपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। एक-दोबार उड़ाया, पर वह फिर आ बैठे। बन्दरने तलवार उठाकर मारा। मक्खी तो उड़ गयी, पर राजा मर गया।

सारांश, उस बन्दरमें भक्ति तो थी; पर समझ नहीं। जिसे सुख पहुँचानेको प्रेम किया जाता है, जिसकी सेवा करनेकी मनमें लालसा होती है, नासमझी उसीको दुःख दिला देती है। अतः भक्त हो, प्रेमी हो, पर समझदार हो। समझदारका आदर सर्वत्र है। बुद्धिमान् ही ठीक सेवा कर सकता है।

श्री शंकरानन्दजीने प्रश्न उठाया है : 'यहाँ ज्ञानी-शब्दसे परोक्ष ज्ञानी ग्राह्य है या अपरोक्ष ज्ञानी ?'

उन्होंने कहा : 'अपरोक्ष ज्ञानी।'

'तब उसे भजन करनेकी क्या जरूरत ?'

'अप्रतिबद्धत्वसिद्धये' : ज्ञानमें कोई प्रतिबन्ध न रहे, इसलिए। अपरोक्षज्ञानी भी प्रतिबन्धकी सम्पूर्ण निवृत्तिके लिए प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न अखण्डाकारवृत्ति करता है। वही उसकी भक्ति है।

'अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी तो ऐसा कर सकता है, दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानी क्यों करे ?'

ज्ञानी पुरुष भी पाँच प्रयोजनोंसे साधनकालकी अभ्यस्त साधना चालू रखते हैं :

१. ज्ञानरक्षा। अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा आदि ज्ञान-

सम्पत्ति जीवनमें बनी रहे तो दूसरोंकी भी ज्ञानमें श्रद्धा होगी। इस प्रकार ज्ञान-सम्प्रदायकी रक्षा होगी।

२. जीवनमें तपस्याका अभ्यास बना रहे।

३. विसंवादाभाव : तर्क-वितर्कसे कोई ज्ञान सिद्धान्तका बाध करना चाहे तो न हो।

४. लौकिक-दृष्ट दुःख-रोगादिसे व्यथा न हो। ज्ञानीको अदृष्ट दुःख तो कभी होता ही नहीं।

५. जागता हुआ परमानन्द जीवनमें दीखता रहे।

इसीलिए ज्ञानी होनेपर भी महापुरुष अपने व्यक्तित्वको भजनमें लगाये रहते हैं।

> जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्याना।

'नित्ययुक्तः' : जाग्रदवस्थाके सम्बन्ध स्वप्नमें और स्वप्नावस्थाके सम्बन्ध सुषुप्तिमें छूट ही जाते हैं :

> तत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता भवति,
> वेदा अवेदा भवन्ति।

गाढ़ सुषुप्तिमें सब छूट जाते हैं। उस समय ईश्वरसे कैसे युक्त रहेंगे? ज्ञानीका आत्मा ही ईश्वर है, सुषुप्तिमें जो सुषुप्तिका साक्षी है, वह तो रहेगा ही। उस साक्षी अद्वितीय परमानन्दघन परमात्मासे कभी वियोग हो ही नहीं सकता।

'नित्ययुक्तः' : संसारमें जितनी वस्तुएँ होती हैं, सभी एककालमें होती हैं तो एककालमें नहीं होतीं। जैसे पहले ब्याह नहीं हुआ था तो पति-पत्नी-सम्बन्ध नहीं था। ज्ञानी जन्मके पूर्व भी युक्त है, मृत्युके बाद भी युक्त। मृत्यु भी उसको आत्मा

और परमात्माके अभेदमें व्यवधान नहीं बन सकती। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सभी दशाओंमें परमात्मामें स्थित है :

जागत सोवत पड़े उताने।
कहैं कबीर हम वही ठिकाने॥

एक व्यक्तिसे अभी भगवान् मिले नहीं, मिलनकी प्रतीक्षा है तो वह नित्ययुक्त है ?

यदि भगवान् काल-विशेष, देश-विशेष अवस्था-विशेष, वस्तु-विशेष रूपमें हों तो कोई उनसे नित्ययुक्त नहीं हो सकता। नित्ययुक्तका अर्थ है : मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति इस तथ्यको जाननेवाला। जिसने पहचान लिया कि रसोऽहमप्सु-कौन्तेय प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः, वह नित्ययुक्त है। वह सब समय और सबमें भगवान्‌को देख सकता है : जहाँ देखता हूँ वहाँ तू ही तू है।

भगवान् कहीं छिपे होते या उनसे ज्ञानी अलग होता तो नित्ययुक्त नहीं होता; किन्तु ज्ञानीका होना ही भगवान्‌का होना है। ज्ञानीका जानना ही भगवान्‌का जानना है। ज्ञानीका आनन्द ही भगवान्‌का आनन्द है। निद्रा, समाधि, विक्षेप और रोग सभी दशाओंमें ज्ञानी भगवान्‌में ही स्थित है। भगवान् उससे नहीं छूटता। जैसे सूर्य चाहे कि हम प्रकाश छोड़ दें, अग्नि चाहे कि हम ताप छोड़ दें तो कैसे छोड़ सकता है ? वैसे ही ज्ञानीका स्वरूप ही ब्रह्म है।

एकभक्तिः। यह भी ज्ञानी हो सकता है, दूसरा नहीं। जो लोग आर्ति-निवारणके लिए भगवान्‌का भजन करते हैं, वे आर्ति निवृत्त होनेपर पूर्वरूपमें चले जाते हैं। जैसे गजेन्द्रकी आर्तिका निवारण

हो गया तो वह अपने लोकमें चला गया। नित्ययुक्त वही होगा, जिसे कोई वस्तु नहीं चाहिए। जाग्रत्‌में भगवान्‌को याद रखोगे, नाम-जप, पूजन करोगे, पर स्वप्नमें? सुषुप्तिमें तो भूल ही जायँगे।

विषयोंकी प्राप्ति होती है तब अवस्था बदलती है। तब देश काल-वस्तुके भेदसे दूसरोंका विस्मरण हो जाता है। ज्ञानीके लिए तो परमात्मा ही परमात्मा है; अतः वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सभी दशाओंमें परमात्मासे मिला है। सब देश-काल-वस्तुके रूपमें परमात्मासे ही मिला है। देश-काल-वस्तुमेंसे एकका भी परिच्छेद जबतक रहेगा तबतक नित्ययुक्तता या एकभक्ति नहीं होगी।

एकभक्तिः—एकस्मिन् भक्तिर्यस्य। जिसकी भक्ति एकमें ही है। अथवा 'एका=अद्वया, अनन्या भक्तिर्यस्य।' जिसकी एक अनन्य-अद्वय भक्ति है।

वैष्णव-सम्प्रदायोंमें कहा गया है कि निम्नलिखित चार बातोंसे बचनेपर अद्वयभक्ति होती है:

१. दूसरे देवताकी पूजा करना। हरि सौं जोरि सबन सौं तर्‍यो। पैसा माँगना हुआ तो लक्ष्मीजीसे, शत्रु मारना हुआ तो भूतभैरवसे कहते फिरें, ऐसा नहीं।

२. साधनान्तरका अनुष्ठान न हो। जो अपना मन्त्र, ध्यान, जप है, उसे छोड़कर दूसरा साधन न अपनाना।

३. फलान्तर: अपने इष्टदेवको छोड़कर और कोई फल न चाहना।

४. सम्बन्धान्तर न बनाना: ऐसा नहीं कि एक गुरु ज्ञानका तो एक भक्तिका और एक भोगका बनायें। क्योंकि यदि उसमें एक भगवद्रूप हो तो चारकी क्या आवश्यकता?

इन चारों बातोंसे बचनेपर ही अनन्या भक्ति होती है।

'एकभक्तिः।' संसारमें लोग अनेक-भक्ति होते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥

भक्ति अव्यभिचारिणी चाहिए। यदि संसारमें दूसरा पुरुष रहेगा तो उत्तम पतिव्रता हो नहीं होगी :

उत्तमके अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

यही अव्यभिचारिणो है। मीराबाई वृन्दावनमें श्री जीवगोस्वामीके दर्शन करने गयीं तो जीवगोस्वामीने कहला दिया : 'मैं प्रकृतिके दर्शन नहीं करता।'

मीराबाईने कहलाया : 'वृन्दावनमें तो एकमात्र पुरुषोत्तम ही पुरुष हैं। यह दूसरा जीव पुरुष कहाँसे आ गया? जीव क्या पुरुष होता है?'

जीवगोस्वामीने सुना तो उठकर बाहर आ गये।

अतः जबतक दूसरा रहेगा, तबतक उसमें राग-द्वेष भी कुछ न कुछ रहेगा। जहाँ दूसरा है हो नहीं, वहाँ किसे हटायें या किसे पकड़ें? दूसरोंमें रुपयेकी, मकानकी, सम्बन्धकी, स्त्री-पुत्रकी, शरीरकी हो सही, कुछ न कुछ भक्ति-राग रहेगा। अतः ज्ञानी ही एकभक्ति होता है।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीने इस 'एकभक्ति' शब्दका अर्थ किया है : एका प्रधानीभूता भक्तिर्यस्य स एकभक्तिः।' ज्ञानी होनेपर भी

जिसने जीवनमें ज्ञानको प्रधान बनाकर नहीं रखा, भक्तिको प्रधान बना रखा, वह एकभक्ति है। जैसे वेदान्ती कहते हैं: 'भक्ति औपाधिक है, प्रतीतिमात्र है, मायामात्र है'; ऐसे नहीं। ज्ञान होनेपर भी भक्तिको ही जो सर्वस्व मानता है।

ज्ञानी लोग भक्ति क्यों करते हैं?

अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।

ज्ञान होनेके पूर्व जो अभ्यास किया, वह स्वाभाविक ही चलता है।

एक अवधूत हैं। अब तो वे केवल वेदान्त-चर्चा करते हैं; किन्तु एक दिन मैंने उसके सामने शिवताण्डव-स्तोत्र बोलना प्रारम्भ किया। वे बचपनमें उसे बोलते थे। मैं बोलने लगा तो निमित्त पाकर उनका वह पुराना संस्कार उद्‌बुद्ध हो गया। वे भी बोलने लगे और उनके नेत्रोंमें आंसू आ गये।

ज्ञानी पुरुषोंके जीवनमें बिना भगवान्‌की भक्तिके, बिना तत्पदार्थ-शोधनके, बिना भगवत्प्रसादजनित अन्तःकरणशुद्धिके तो ज्ञान हुआ नहीं। अतः पहलेका उन्हें भजन करनेका अभ्यास है।

मीमांसा-ग्रन्थोंमें भागत्यागलक्षणा भक्तिः कहा गया है। जैसे काशीमें एक व्यक्तिको लाल कपड़ा पहने, काले बालोंवाला देखा। उसीको बम्बईमें सफेद कपड़ोंमें, कुछ पके बालोंका देखा। देश-काल, वेष भिन्न-भिन्न होनेपर भी व्यक्ति एक है। ऐसे ही संसारमें स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, चर-अचर दीखते हैं। इसमेंसे भाग-त्याग कर दो। इसमेंसे नाम-रूप हटा दो और जो सच्चिदानन्द है, उसे देखो। यह एक व्यक्ति है अर्थात् लक्षणा द्वारा भिन्न-ताओंका परित्याग करके दोनोंमें जो एक ब्रह्म है, उसे पहचान लिया। अतः 'विशिष्यते' = वह विशेष है।

एक उपासकपर कुबेर प्रसन्न होकर बोले : 'वरदान माँगो !'

उपासक : 'जो सबसे उत्तम हो, वह दे दो।'

कुबेर : 'तुम एक घण्टे मेरे कोषागारमें रहो। वहाँसे उतने समयमें चुन लो, जो सर्वश्रेष्ठ लगे, ले लो !'

वह कोषागारमें गया। जो भी रत्न, मणि देखे उससे श्रेष्ठ दूसरा लगे। कुछ चुन नहीं सका और घंटा बीत गया। एक घंटे बाद कुबेरका सेवक निकालने आया तो चलते-चलते एक मुट्ठी चना ले आया। बोला : 'चलो, इसे चबाते चलेंगे।'

एकभक्ति वही हो सकता है, जिसे सुनिनिश्चित है कि सर्वश्रेष्ठ कौन है, जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी खजानेमें जौहरी घुसे तो पहली दृष्टिमें ही वह मणि उठायेगा कि खजानेका स्वामी भी दंग रह जायगा। ज्ञानी जानता है कि सर्वत्र वही परिपूर्ण है।

हरि-हीरा हेराय गयो कचरेमें।

इस संसारके कूड़ेमें परमात्मारूपी हीरा खो गया है। ज्ञानीने उसे ढूँढ़ लिया है। ज्ञानी कहनेका तात्पर्य ही है कि वह चेतनांशमें एक है। नित्ययुक्तका तात्पर्य है कि सदंशमें एक है। एकभक्ति कहनेका तात्पर्य है कि आनन्दांशमें एक है। वह अद्वय, सच्चिदानन्दघन परमात्मासे मिला होनेके कारण 'विशिष्यते' है।

कथं विशिष्यते ? हि यतः—क्योंकि—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्। मैं ज्ञानीका अत्यर्थं प्रिय हूँ।

श्रीमद्भागवतमें प्रश्न उठाया है : 'व्रजवासियोंको श्रीकृष्ण इतने प्रिय क्यों हैं ?' वहाँ उत्तर दिया : 'संसारमें सबसे प्यारा आत्मा,

त्वं-पदार्थ है। उससे भी बड़ी वस्तु है—उस त्वंपदार्थका पूर्ण परमात्मासे एकत्व। ये श्रीकृष्ण वही एकत्व हैं :

> सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
> इतरे पुत्रवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
> कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
> जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वाभाति मायया॥

ज्ञानीका लक्षण ही यह है कि उसका प्रिय परमात्मा है : वह जीव-जगत्‌में फँसा नहीं है।

प्रिय वह है जो तृप्ति दे। 'प्रीञ् तर्पणे—जो अपने दर्शन, स्पर्शन, भाषण, स्मरणसे तृप्ति दे वह प्रिय है : 'प्रीणातीति प्रियः।'

ज्ञानीको तृप्ति किससे होती है? उसे और किसीसे तृप्ति नहीं होती। तत्तदाकारवृत्तिसे प्रतिभात परमात्मासे ही तृप्ति होती है। महापुरुष गुड़ खाता है तो उसे नहीं लगता कि इस मिट्टीके डलेसे सुख मिल रहा है। उसे मालूम पड़ता है कि परमात्मा ही गुड़की उपाधिसे सुखरूपमें प्रकट हो रहा है। ब्रह्मानन्दके ही भेद हैं विषयानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द, आत्मानन्द। यह सब परमात्मासे ही आता है, इसे ज्ञानी जानता है। जैसे एक ही जल अनेक रूप बनकर गन्नेका शर्बत, सन्तरेका शर्बत आदि बनकर आता है। एक ही मिट्टी नाना इत्र, नाना सुगन्ध बनकर आती है। एक ही शब्द षड्ज, गान्धारादि नाना स्वर बनकर आता है। एक ही स्पर्श कोमल, कठोर बनकर आता है। ऐसे ही नाना इन्द्रियों, नाना विषयों, नाना अन्तःकरणोंकी उपाधिसे एक ही परमात्मा प्रकट हो रहा है। ज्ञानी उन-उन उपाधियों, विषयों,

करणोंको ओर नहीं देखता। वह उन्हें बाधित रूपसे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही देखता है। अतः उसे परमात्मा अत्यर्थ प्रिय है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' : 'अर्थम् अतिक्रम्य अत्यर्थम्।' घट-पट-मठ, पशु-पक्षी आदि शब्दोंके जो अर्थ हैं, उनका अतिक्रमण कर जो हो, वह अत्यर्थ है।

लोग संसारमें किसी प्रयोजनसे प्रेम करते हैं। सेठसे प्रेम धनके लिए। राजासे प्रेम पदके लिए। देवतासे प्रेम वरदान पानेके लिए। स्त्री-पुरुषका प्रेम भोगसुखके लिए होता है। अर्थ = प्रयोजन। संसारमें किसी न किसी प्रयोजनवश मनुष्य प्रेम करता है। जिज्ञासु भी गुरुसे प्रेम ज्ञानके लिए करता है। पर ज्ञानीको भगवान्से कुछ नहीं चाहिए; क्योंकि ज्ञानी होता तभी है जब सब इच्छाएँ छूट जाती हैं :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

भक्तोंमें जो ज्ञानी हो गया, वह सब अर्थों, प्रयोजनोंका अतिक्रमण कर या भगवान्से प्रेम करता है।

स च मम प्रियः। वह ज्ञानी भी मुझे प्रिय है। वृन्दावनके लोग कहते हैं : 'एक दिन सारसका जोड़ा और चक्रवाकका जोड़ा परस्पर मिला। दोनोंमें विवाद छिड़ा कि बड़ा प्रेमी कौन है?

सारस : 'बड़े प्रेमी हम हैं; क्योंकि जीवनभर दोनों साथ रहते हैं।'

चक्रवाक : 'यह तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है। जब तुमने विरह कभी देखा ही नहीं; तो प्रेमरसकी थाह कैसे मिली? तुम सच्चे प्रेमी नहीं हो सकते।'

सारस : 'तुम भी प्रेमरस नहीं जानते। रातमें जो दोनों कभी साथ रहते ही नहीं, वे क्या प्रेम जानें ?'

प्रेममें समरसता हो तब सच्चा प्रेम होता है। एकांगी प्रेमकी महिमा ज्यादा है। मछली जलसे बहुत प्रेम करती है, पर जलको पता ही नहीं कि मुझमें रहनेवाली मछली मुझसे प्रेम करती है। चकोर चन्द्रमासे बहुत प्रेम करता है; पर चन्द्रमाको पता ही नहीं कि चकोर मुझसे प्रेम करता है। ऐसे एकांगी प्रेमका माहात्म्य होता है। फिर भी प्रेमका रस तब है जब दोनों ओर प्रेम हो। जैसे श्रीराधा श्रीकृष्णसे और श्रीकृष्ण श्रीराधासे प्रेम करते हैं।'

भगवान् ही प्रेमका रस लेनेके लिए भगवान् और भक्त इन दो रूपोंमें बनते हैं। श्रुति कहती है :

स एकाकी नारमत। ततो द्वितीयमसृजत—पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'

भक्त और भगवान्का सम्बन्ध है :

परसपर दोउ चकोर दोउ चन्दा।

कभी भक्त चकोर होता है, भगवान् चन्द्रमा तो कभी भगवान् चकोर होते हैं और भक्त चन्द्रमा। परस्पर दोनों प्यासे हैं और परस्पर दोनों रस हैं।

एकांगी प्रेम सती होनेके समान है। इसमें त्याग-बलिदान बहुत है; किन्तु प्रेमका रस केवल बलि चढ़ाना या केवल त्याग नहीं है। प्रेमका रस वहाँ है जहाँ दोनों दोपनेको भूलकर एक हो जाते हैं। अतः ज्ञानीके प्रिय भगवान् और भगवान्का प्रिय ज्ञानी है।

भगवान् कहते हैं : मुझे ज्ञानी तृप्त करता है और मैं ज्ञानीको तृप्त करता हूँ। ऐसी परस्पर तृप्ति है कि द्वैत रहा ही नहीं।

इसमें 'ज्ञानिनः' चित् है, 'प्रियः' आनन्द है, 'अहं' सत् है। ज्ञानी-परमात्माका प्रेम यह सच्चिदानन्दका विलास है।

संगति :

ज्ञानी प्रिय हुआ भगवान्का और भगवान् प्रिय हुए ज्ञानीके। किन्तु जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं—आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी, उन सबकी क्या स्थिति है? साथ ही उन तीनोंमें और ज्ञानीमें अन्तर क्या है?

आर्त भक्तका प्रेम आर्ति मिटानेमें है और भगवान्से भी प्रेम करता है। अर्थार्थी भक्तका थोड़ा प्रेम अर्थसे है, थोड़ा भगवान्से। जिज्ञासु भक्त थोड़ा प्रेम ज्ञानसे करता है, थोड़ा भगवान्से। किन्तु ज्ञानी तो परमात्माको आत्मरूपमें जान लेनेके बाद केवल परमात्मासे ही प्रेम करता है। अतः आर्त, जिज्ञासु एवं अथार्थीकी स्थिति और ज्ञानीकी श्रेष्ठता भगवान् बतलाते हैं :

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी उदार हैं, किन्तु मेरे मतमें ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है; क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम गतिमें ही स्थित है।

उदाराः। महाभारतमें उत्कृष्टके अर्थमें 'उदार' शब्द आया है :

तथापि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ।

यहाँ 'कुमारसम्भव' में पार्वतीजीको 'उदारदर्शने' कहा गया है। अर्थात् जिसका दर्शन श्रेष्ठ है।

अमरकोशमें दो बार 'उदार' शब्द आया है : 'दक्षिणे सरलोदारौ' जो मनुष्य सदा दाहिने, हर काममें आगे रहे उसे उदार कहते हैं। 'सरलोदारौ' जिसके मनमें कपट न हो, वह उदार है। एक स्थानपर यहाँ दक्षिण शब्दका पर्याय 'उदार' कहा। दूसरे स्थानपर 'उदारो दातृमहतोः' दाताका नाम उदार है और महान्‌का नाम उदार है।

भक्त क्या हैं ? उदार हैं अर्थात् दक्षिण हैं। ये किसीके बाँयें, प्रतिकूल नहीं होते।

भक्त उदार हैं अर्थात् सरल हैं, छल-कपट नहीं करते। दाता होते हैं। इनके पास भगवान्‌का खजाना होता है, अतः देते जाते हैं। इनके मनमें नहीं आता कि 'दे देंगे तो' खायेंगे क्या ?'

भक्त कोकिल साईं जब पैदा हुए तो पिता अपने घरकी सब वस्तुएँ दान करने लगे। एक संत आत्मारामने उनसे कहा : 'रोचलदास ! अभीतक तो तुम्हारे कोई था नहीं, तब बाँटते थे, अब घरमें बेटा आ गया तो उसके लिए कुछ तो रखना चाहिए।'

वे बोले : 'मैं पैसा बाँट रहा हूँ, वस्तुएँ बाँट रहा हूँ, लड़केकी किस्मत तो नहीं बाँट रहा हूँ। वह भी तो अपना प्रारब्ध लेकर आया है। भगवान् उसका योगक्षेम करेंगे। हम उसके लिए चिन्ता क्यों करें ?'

योगवाशिष्ठमें एक कथा है। एक भिक्षुक भगवान् श्रीरामके पास माँगने आया। श्रीरामने पूछा : 'आपको क्या चाहिए ?'

'धन चाहिए।'

'धन चाहिए ?'—श्रीराम चौंककर बोले : 'अरे, मैंने अनुभव किया है कि धनमें विपत्तिका निवास है' :

आपदामेकमावासं किन्तु वाञ्छसि रे धनम्।
इत्युक्त्वा निजसर्वस्वमर्थिने सम्प्रयच्छति॥

'मैं तो धन छोड़ना चाहता हूँ और तुम चाहते हो ? क्यों चाहते हो भला ?' यह कहकर अपना सब कुछ दे दिया।

आजकलका वैरागी होता तो कहता : 'धनमें बड़ा दुःख है। तुम क्यों माँगते हो, मेरे पास ही रहने दो !'

भगवान् श्रीरामने कहा : 'देखो, समझ लो कि धनमें दुःख है; पर ले जाओ, सब ले जाओ।'

महाराज दशरथके पास समाचार जाता : 'आज श्रीरामने अपने सदनका सब कुछ दान कर दिया।' तब महाराज दूसरी सामग्री भेजते। ऐसा प्रायः रोज होता। इसका नाम है औदार्य। औदार्यका अर्थ है अपनी शक्तिसे अधिक दान करना। 'उत्-उत्कृष्टं, आ-समन्तात्, राति=ददाति इति उदारः।' अर्थात् बढ़ियासे बढ़िया वस्तु जो सबको सब दे दे, वह उदार है।

वृन्दावनमें श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें एक कहार है। गरीब है, पानी भरता है। उसके परिवार है। लेकिन स्वयं मैले-फटे कपड़े पहनता और पैसे-कपड़े दूसरोंको दे देता है। एकबार गाजीपुर जिलेका एक चौदह-पन्द्रह वर्षका बालक मेरे पास आया। बोला : 'मुझे यहाँ रख लीजिये। मैं संस्कृत पढ़ूँगा।'

मैंने उसे मना कर दिया। आश्रमके पण्डितजीने भी उसे फटकार दिया। हम लोगोंका विचार था कि इतना छोटा बालक

घरसे दूर रहेगा तो घरके लोग तो दुःखी होंगे ही, यह भी आवारा हो जायगा। उस कहारने उसे रख लिया। अपने खर्चसे खिलाया और व्याकरणचार्यंतक उसे पढ़ाया।

'उमा' शब्द कैसे बना? पार्वतीजीसे उनकी माताने कहा: 'उ = मा' अर्थात् 'अरे नहीं, तप मत कर।' ऐसे ही 'उदाराः' में से 'उ' को पृथक् कर दो तो 'दार'शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः पुंलिंगश्च'—दार शब्द नित्यबहुवचन तथा पुंल्लिग है। इस तरह 'उदाराः सर्वं एवैते' का अर्थ होगा—ये सब भक्त लक्ष्मीजीके स्वरूप ही हैं। इनका आश्रय ले लो तो ये परम मंगलायतन हैं।

उदाराः सर्व एवैते। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थीको दूसरे किसीसे आशा नहीं, केवल भगवान्से आशा है कि वे ही हमारी इच्छा पूरी करेंगे। यह दृष्टिकोण कितना उदार, महान् हो गया कि अपनी शक्तिका लोगोंका सहारा, किसीका कोई ध्यान नहीं।

'सर्वेऽप्युदाराः' का तात्पर्य है:

'अन्ये कृपणबुद्धयः, ये तु आर्ति-निवारणार्थं मयि मां न भजन्ति, ज्ञानप्राप्त्यर्थं मयि मां न भजन्ति अर्थार्थं मयि मां न भजन्ति ते कृपणबुद्धयः। ये तु मां भजन्ति ते उदाराः।'

अर्थात् जो आर्तिनिवारण, ज्ञान पाने या धनके लिए भी मेरा भजन नहीं करते, वे कृपणबुद्धि हैं। जो मेरा भजन करते हैं, वे उदार हैं।

जो किसी दूसरेका भजन करते हैं, वे कृपणबुद्धि हैं। वे संसारको छोड़ नहीं सकते। उनकी बुद्धि कहीं-न-कहीं संसारमें भटक जाती है।

श्री अभिनवगुप्ताचार्यने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है: 'ईश्वरने तुम्हें दो हाथ, दो पैर, नेत्र, कर्ण, हृदय आदि दिये हैं।

यदि तुम अपनी मनोरथपूर्तिके लिए किसी अपने ही जैसे व्यक्तिकी शरण ग्रहण करते हो तो उससे छोटे, निकृष्ट हो गये।'

उदार उसे कहते हैं, जो दे; किन्तु जो आर्तिनाशके लिए। ज्ञान या धनके लिए भगवान्को पुकारता है, वह देगा क्या? उसमें उदारता क्या होगी? वह दूसरे मनुष्योंसे, देवतादिसे प्रार्थना नहीं करता, अतः उत्कृष्ट है, यह तो मान लिया; पर भगवान्से माँगता है, तो उदार कैसे?

भगवान् श्री शंकराचार्यजीने उदार शब्दका अर्थ श्रेष्ठ किया है। श्री रामानुजाचार्यजी ने दूसरा अर्थ किया है: वदान्य। वद कहते हैं बोलनेवालेको, उससे जो अन्य है; अर्थात् जो बकवादी नहीं। कहे बहुत, पर करे कम। ऐसे व्यक्तिसे जो भिन्न है; बोले नहीं पर काम पूरा कर दे, वह वदान्य है।

एक साधुने तपस्या की। देवताने प्रसन्न होकर उसे एक ऐसा शंख दिया कि उस शंखसे प्रतिदिन दो रुपया मिल जाता था। साधुको किसीसे कुछ लेना-देना नहीं रहा। सब काम उसी शंखसे प्राप्त रुपयोंसे चल जाता था। एक गृहस्थने किसी प्रकार वह शंख चुरा लिया। साधुने फिर देवताकी आराधना की। देवताने प्रकट होकर कहा: 'मेरे पास वैसा शंख तो एक ही था। मैं तुम्हें दूसरा शंख देता हूँ। इसे लेकर उस गृहस्थके घर चले जाओ।'

साधु उस गृहस्थके घर घूमते हुए पहुँचे। वहाँ उनका स्वागत हुआ। पूजा-पाठ करके शंखसे बोले: 'आप मुझे दो रुपया दो।'

शंख: 'चार लो!'

'चार दे दो!'

'आठ लो !'

इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते लाख-करोड़की बातें होने लगीं। साधुने कहा : 'अच्छा, आज रहने दो !'

गृहस्थने छिपकर सब सुना। उसने लाकर साधुको पहला शंख दे दिया। बोला : 'महाराज, आप पहले आये थे तो इसे यहाँ भूल गये थे। इसे ले जाइये; पर आप तो साधु हैं, यह अपना बड़ा शंख मुझे दे दीजिये। इतना बड़ा शंख आप कहाँ ढोते फिरेंगे ?'

साधु वह पहला शंख लेकर चले गये। दूसरे दिन वह गृहस्थ बड़े शंखकी पूजाकर उससे रुपये माँगने लगा। जितने रुपये माँगे, शंख उससे दुगुना देनेकी बात कहता। अन्तमें गृहस्थ बोला : 'अच्छा, आपको जितना देना हो, उतना ही दे दो !' शंखने कहा :

'अरे, मैं तो ढपोरशंख हूँ। मेरा काम केवल बोलना है, देना नहीं। देनेवाला तो शंखनिधि है। वह 'वदान्य' होता है। मैं तो 'वद मात्र हूँ' :

अहं ढपोरशङ्खोऽस्मि न ददामि वदामि च।

भगवान्‌के जो भक्त होते हैं, उनके सम्बन्धमें पहले तो लगता है कि वे सहायता, धन या ज्ञान पानेको भगवान्‌को पुकारते हैं, पर जब दुःखनिवारण हो गया, धन मिल गया, ज्ञान मिल गया तो शरीर भगवान्‌की सेवामें लगा दिया—सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित कर दिया। देनेके लिए ही लिया था, अतः वे उदार हुए।

श्री वल्लभाचार्यजी महाराजके अनुयायी कहते हैं : भक्तिकी यह महिमा है कि यदि अपना धर्म छोड़कर भी कोई भगवान्‌का भजन करते हैं तो उनका कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं :

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थं आप्तो भजतां स्वधर्मतः॥

—भागवत

एक आदमी अपना धर्म छोड़कर भगवान्‌के चरणकमलोंकी आराधनामें लग जाता है। भजन करते-करते भजनका परिपाक होनेसे पहले ही च्युत हो जाय—जैसे गन्नेका रस पका रहे हैं, पक जाय तो गुड़ बन जायगा; पर ऊफान आनेसे गिर गया तो? ऐसे ही यदि भजनका ताप सहन नहीं हुआ, गिर जाय तो क्या उसका अमंगल होगा? नहीं, अमंगल नहीं होगा। उसे भगवान् उठा लेंगे।

किसीने भजन नहीं किया और बड़ा धर्मानुष्ठान किया तो उसे क्या मिलेगा? धर्मके मूल्यसे भगवान् नहीं खरीदे जा सकते।

भगवान्‌के साथ कोई भाव जिसने जोड़ा, वे तन्मय, भगवन्मय हो गये। उन्हें अन्तमें भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है। जो कुछ सकामभावसे भगवान्‌से लेते हैं, भजन परिपक्व हो जानेपर—निष्कामता आ जानेपर वह सब और सरस-मधुर बनाकर भगवान्‌को अर्पित कर देते हैं:

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रवुद्धधीरथवा किन्नु समर्पयामि ते॥

मैं जो कुछ हूँ और जो भी मेरा है, सब तुम्हारा ही है।

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

अतः सकामभक्त भी उदार हैं। ये वे लेनेवाले नहीं जो फिर लौटाते ही नहीं। ये तो व्याजसहित लौटाते हैं।

एक सज्जनको मैंने देखा था। उनके घर कथा, विवाह, उत्सव होता तो दरी-कालीन आदि मांगकर लाते; लेकिन लौटाना होता तो उसे भली प्रकार धुलवाकर, साफ कराकर भेजते थे। ऐसे ही आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्त भगवान्से लेकर उन्हें और मधुर करके लौटाते हैं। अतः ये उदार हैं।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। भक्त सबके सब उदार हैं; किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। जो मैं हूँ, वही ज्ञानी है।

यह किसका मत है? भगवान् कहते हैं : 'यह मेरा मत है।'

अमरकोशमें 'उदार' शब्दका अर्थ दिया गया है दाता और महान् : उदारो दातृमहतोः। बड़े आदमीके सेवक भी अपनेको बड़ा मानते हैं। अतः ये जो भक्त हैं, वे सबके सब महान् हैं। लेकिन जब आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी सब महान् हैं तो ज्ञानी क्या है? उसे भी अन्तमें महात्मा ही तो कहोगे?

इस सम्बन्धकी एक कथा आती है। एकबार महाकवि दण्डी और कालिदासकी भेंट हुई। दण्डीको गर्व था : 'मैं सबसे बड़ा कवि हूँ।' दण्डिनः पदलालित्यम् यह कहावत भी है।

उधर थे कविकुलतिलक कालिदास। दोनोंमें विवाद छिड़ गया। दोनों अपनेको सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे।

अन्तमें निश्चय हुआ कि देवी सरस्वतीसे पूछना चाहिए।

दोनोंने सरस्वतीके सामने जाकर पूछा : 'माता, बतलाओ कि हम दोनोंमें बड़ा कवि कौन है ?'

सरस्वतीने स्पष्ट कहा :

कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।

कालिदास क्रोधसे भभक उठे। बोले :

'अहं रण्डे ? अहं रण्डे ?' अर्थात् 'अरी रांड़ ! मैं कौन हूँ ?'

सरस्वतीने हँसकर कहा : त्वं तु मद्रूप एव हि। अर्थात् 'कालिदास ! तुम तो मेरे स्वरूप हो हो।'

कवि कहनेसे दण्डीकी जितनी प्रशंसा हुई था, 'मद्रूप' कहनेसे कालिदास उससे श्रेष्ठ हो गये। इसी प्रकार 'उदाराः सर्व एवैते' कहकर भगवान्ने जो साधारण भक्तोंको महान् बतलाया, वह उनसे श्रेष्ठ ज्ञानीको बतलानेके लिए कहा। 'ज्ञानी त्वात्मैव'—ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। वह तो मैं ही हूँ। मुझमें और ज्ञानीमें कोई अन्तर नहीं। दूसरे सब आत्मीय हैं, पर ज्ञानी आत्मा है।

संस्कृतमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें होता है : धन और जातिके लिए, अपने लिए और अत्यन्त मित्रके लिए।

योगमें तो 'आत्मा' का अर्थ है :

आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च।

यहाँ आत्मैव' का अर्थ है परम प्रेमास्पद; पर भगवान् कहते हैं : 'मैं ज्ञानीसे एक होकर रहता हूँ। वह मेरा धन है। वह मेरा बन्धु है। वह मेरी जाति है। वह हमारा परम प्रेमास्पद है। जो ज्ञानीको गाली देता है, वह मुझे लगती है। जो ज्ञानीकी सेवा करता है, वह मुझे मिलती है; क्योंकि ज्ञानीने अपनेको मुझसे अलग रखा ही नहीं।'

मानो अर्जुनने पूछा : 'श्रीकृष्ण, तुम कभी किसीकी बात कहते हो, कभी किसीकी। कभी वेदकी बात कहते हो, कभी किसी शास्त्रकी। यह बात किसको कह रहे हो ?'

श्रीकृष्ण : इति तु मे मतम्। यह मेरा अपना मत है। मेरा यह निश्चय है कि ज्ञानी और मुझमें भेद नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानीमें ऐसी कौन-सी विशेषता है जिसके कारण भगवान् ज्ञानीको अपनी आत्मा बतलाते हैं ?

'यतः स हि युक्तात्मा भवत्ति' और 'अनुत्तमां गतिं माम् एव आस्थितो भवति।' उसमें ये दो विशेषताएँ हैं : वह युक्तात्मा है। जिस परमात्मामें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड त्रसरेणुकी भाँति उड़ रहे हैं, वह उसके लिए अपना 'स्व' है। उसके लिए न रागका हेतु रहा, न द्वेषका।

जित देखौं तित श्याममयी है।

उस महापुरुषकी स्थितिको वे ही समझ सकते हैं, जो उस स्थितिमें पहुँच चुके हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

—गीता

कर्ममें अकर्म, प्रपञ्चमें ब्रह्म और ब्रह्ममें प्रपञ्च जो देखता है—जिसे अखण्ड समाधि लग रही है वह :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

—गीता

यह वासनावासित अन्तःकरणवाला नहीं है। इसका अन्तःकरण बाधित है, प्रतीतिमात्र है।

दूसरी बात यह कि मामेव आस्थितः। वह केवल भगवान्में ही पूर्णरूपसे स्थित है।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे॥

भीतर-बाहर सब ओरसे भरपूर, जैसे पानीमें कोई भरा घड़ा हो। बाहर-भीतरसे शून्य, जैसे सूना घड़ा आकाशमें हो। इस प्रकार ज्ञानी पुरुषकी पूर्णतः भगवान्में ही स्थिति है।

बुभुक्षुर्दृश्यते लोके मुमुक्षुरपि दृश्यते।

लोकमें बुभुक्षु होते हैं, जो भोग चाहते हैं। मुमुक्षु, मोक्ष चाहनेवाले भी लोकमें होते हैं। बुभुक्षु भूखे हैं, वे भोग चाहते हैं। मुमुक्षु बद्ध हैं, संसार-बन्धनसे और मृत्युभयसे त्रस्त हैं। वे मोक्ष चाहते हैं। किन्तु—

भोगमोक्षनिराकाङ्क्षो विरलो हि महाशयः।

जिनको न भोग चाहिए, न मोक्ष, जो अपने आपमें तृप्त हैं—ऐसे महापुरुष जिन्हें न भोग है, न योग, न बन्धन और न मोक्ष है, दुर्लभ हैं।

'मामेव स्थितः'का अर्थ है : 'मोक्षाभिसन्धिमपि परित्यज्य।' उसके मनमें मोक्षकी भी कामना नहीं रहती। वह तो कृतकृत्य हो चुका है।

अनुत्तमां गतिम्। जिस गतिसे बढ़कर दूसरी कोई गति नहीं, वहाँ वह स्थित है।

२४. ज्ञानीकी प्रपत्तिका स्वरूप

संगति :

ज्ञानी पुरुषका महत्त्व एवं उसका मिलना बहुत कठिन है, यह बतलाते हैं :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। १९ ।।

'बहुत जन्मोंके पश्चात् अन्तिम जन्ममें कोई ज्ञानवान् होता है। 'सब कुछ वासुदेव ही हैं' इस प्रकार मेरी प्रपत्ति करनेवाला वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

'बहूनां जन्मनामन्ते जन्मनि ज्ञानवान् भवति ततो मां प्रपद्यते।' जो चाहता है कि हमें भोगनेको ये वस्तुएँ मिलें, यदि इस जन्ममें वे पूरी नहीं होती तो अगले जन्मोंमें जाना पड़ता है। चित्तमें जैसी-जैसी वासना होती है, उस-उस वासनाके अनुसार अन्तःकरण-का आकार बदलता जाता है और वैसे-वैसे शरीर प्राप्तकर तत्तद् भोगोंकी प्राप्ति होती है।

जन्मका कारण यह है कि हम अपनेको ब्रह्म नहीं, परि-च्छिन्न जानते हैं। अपनेको ब्रह्म न जानना अज्ञान है और अपनेको परिच्छिन्न जानना है भ्रान्ति। फिर हम यह कर्म करेंगे तो यह भोग मिलेगा, इस प्रकार कर्तापन और भोक्तापन आया। इस कर्तापन और भोक्तापनके अधीन होकर जीवको अपने भीतर

मालूम पड़नेवाली कमियोंको पूरा करनेके लिए जन्मान्तर ग्रहण करना पड़ता है ।

वासनाके अनुसार ही सूक्ष्म-शरीरका निर्माण होता है । उसके अनुसार हो जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं । सबके मूलमें अज्ञान बैठा है । अज्ञानके बिना अपनेमें कमी क्यों मालूम पड़ती और दूसरेको चाहते ही क्यों ?

अन्ते जन्मनि । जब मनुष्य जीवनमें निर्वासन होने लगता है तब मोक्षकी ओर बढ़ता रहता है । आपको वासना पूर्ण होनेमें मजा आता है या वासना मिट जानेमें मजा आता है, यह अपने दिलमें देखें । मनमें संसारकी कोई वस्तु देखकर वासना हुई, वह अच्छी लगी । तब मनके साथ अपनेको जोड़ लेना कि हम इसे लेंगे—उसीके चिन्तनमें लग जाना, यह स्पष्ट प्रकट करता है कि अभी तुम्हारे मनमें बहुत-सी वासनाएँ होंगी और तुम्हें बहुत-बहुत जन्म लेने होंगे । जब वासनाकी निवृत्तिमें रस आने लगता है—'इतने समयतक हमारे मनमें कोई मनोराज्य नहीं हुआ, कोई वासना नहीं उठी, कितनी शान्ति थी, भगवान्‌के स्मरणमें ही आनन्द आ रहा था !' इस तरह जब वासनाकी शान्तिमें मजा आने लगता है, तब समझो कि तुम ऐसे जन्ममें पहुँच गये, जहाँसे छुटकारेकी ओर चले जाना है ।

बहूनां जन्मनामन्ते । बहुत जन्मोंके बाद जो अन्तिम जन्म प्राप्त होता है, उसमें तत्त्वज्ञान होता है । श्रीमद्भागवतमें 'चरम देह' शब्दका प्रयोग है :

चरमं शरीरं प्राप्तमाहुः ।

यहाँ जड़भरतके शरीरको अन्तिम शरीर कहते हैं । इसके

बाद उन्हें दूसरा शरीर प्राप्त होनेवाला नहीं है। श्री शुकदेवजीका, भीष्मपितामहका शरीर अन्तिम शरीर है।

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।

अन्तिम जन्ममें ही निर्वासन पुरुषको ज्ञान प्राप्त होता है। निर्वासन होना अन्तःकरणका शुद्ध होना है। शुद्धान्तःकरण ही ज्ञानवान् होता है। ज्ञानवान् पुरुषको भगवान्का अनुभव होता है।

भगवान्का अनुभव ही होता है। अन्यथा वे सामने खेलें तो भी पता नहीं लगता। ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। जब वह व्यक्ति सामनेसे चला जाता है, तब चौंकते हैं कि 'अरे, ये तो मनुष्य नहीं थे।' कईबार भगवान् आते हैं, भोजन दे जाते हैं। ले लिया, खा लिया, वे चले गये। तब चौंकते हैं : 'ये कौन हैं ? बड़ी भूल हुई, पहचाना नहीं।'

भगवान् अपने सामने जिस रूपमें आते हैं, उस रूपमें अपने सामने ही उन्हें पहचान लेना बड़ा कठिन है। भगवान् कहते हैं : 'ज्ञानी पुरुष मुझे पहचान लेता है—वासुदेवः सर्वमिति मां प्रपद्यते।

ये क्षराक्षर विलक्षण पुरुषोत्तम नराकृति श्रीकृष्ण, वासुदेव ही परब्रह्म परमात्मा, सब कुछ हैं। उनके सिवा दूसरा कोई नहीं। अर्थात् इसी देश और इसी कालमें इसी रूपमें ज्ञानी पुरुष परमात्माको पहचानता है; किन्तु वह पहचाननेवाला महात्मा बड़ा दुर्लभ है।

प्रपद्यते। भगवान्‌के प्रति प्रपत्तिके बिना परमार्थके मार्गमें कोई गति नहीं होती। कोई ईश्वरको ढूँढ़ने निकला। 'ईश्वर है' यह प्रपत्ति हृदयमें न हो तो कोई ईश्वरको ढूँढ़ने क्यों निकलेगा? ईश्वर है, मिल सकेगा, मैं उसे ढूँढ़ सकूँगा, उसकी सत्ता है, उसका मिलना सम्भव है और मुझमें उसे ढूँढ़ निकालनेकी योग्यता-क्षमता है—यह सम्भावना होनेपर ही व्यक्ति ढूँढ़ने निकला। यह असम्भावना हो कि हमें तो कभी ईश्वर मिल ही नहीं सकता, उसका ऐसा रूप नहीं कि वह मिल सके, या वह है ही नहीं—इन तीनोंमें कोई भी बात मनमें होती तो मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श, पद-प्रतिष्ठा, धन-भवन, स्त्री, पुत्र, परिवार छोड़कर अनजाने-अनदेखे ईश्वरको ढूँढ़ने निकलता ही क्यों? अतः ईश्वरानुसन्धान प्रारम्भ होनेके लिए एक प्रकारकी प्रपत्ति आवश्यक है।

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
—गीता

अव्यय-पद तो स्वयं भगवान् हैं। जीव करता है प्रपदन। अब परिमार्गण-अनुसन्धान कैसे हो? तब पहले प्रपत्ति हो—'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।' हम उस आदिपुरुषकी शरण ग्रहण करते हैं, जिससे यह पुरानी प्रवृत्ति फैली है। जिसकी सत्ता और प्रकाशसे सृष्टि उत्पन्न हुई तथा चल रही है, उस प्रभुकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। उसकी शरण ग्रहण किये बिना तो उसकी खोज हो ही नहीं सकती।

अब खोजके लिए गुरुकी जरूरत पड़ी तो गुरु भी बिना शरणागतिके प्राप्त नहीं होगा। अभिमानी पुरुषको गुरुकी प्राप्ति

नहीं होती। अपनी विद्या, बुद्धि, धनका गर्व—कोई भी बड़प्पन जिसमें भरा हो, वह गुरुकी शरण ग्रहण नहीं कर सकता और सच्चा उपदेश, मार्गदर्शन प्राप्त करनेके लिए शरण होना पड़ता है।

गुरुने बतला दिया वह साधना कर रहे हैं, मार्गपर चल रहे हैं, तब भी प्रपत्तिकी आवश्यकता होती है। बड़े जपी-तपी, साधक बननेसे भी काम नहीं चलता।

जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काचे नाचे वृथा साँचे राचे राम॥

काम इससे नहीं चलेगा। माला मायाके पार नहीं ले जायगी। तप्तमुद्रादि छापा, तिलकसे क्या, जब मन ही कच्चा है। व्यर्थ इधर-उधर नाचता है। जब भगवान्के रंगमें सचमुच रंग जाओ, तब समझो कि मन सच्चा है।

जप, तप, पूजाका वास्तविक फल तब मिलेगा, जब उसमें प्रपत्ति होगी। अर्थात् भगवान्की शरणागति ग्रहण किये बिना अपने बल-पौरुषसे, अपने जप-तप-साधनसे भगवान्को नहीं पाया जा सकता। अतः भगवान्ने पहले ही कह दिया :

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

ईश्वरकी खोज प्रपत्तिसे, गुरु मिले प्रपत्तिसे, साधन सफल हुआ प्रपत्तिसे। साधनकी सफलता ही प्रपत्ति है।

माया तो तर गये, अब ज्ञानी पुरुषका वर्तमान जीवन कैसा है?

उसका जीवन अल्पात्मा, क्षुद्रात्मा नहीं है। 'स महात्मा'—जो एक स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेहको 'मैं-मेरा' मानकर

बैठा है, वह क्षुद्रात्मा है। जो स्थूल, सूक्ष्म, कारणदेहों—तीनोंसे 'मैं-मेरा' हटाकर परमात्मामें बैठा है, वह महात्मा है।

'महान् आत्मा यस्य' : जिसकी आत्मा महान् है, अल्प नहीं है। सम्पूर्ण विराट्, सम्पूर्ण हिरण्यगर्भ, सम्पूर्ण ईश्वरकी सृष्टि भी जिसमें बाधित है, उस महान् ब्रह्मसे एकत्वानुभव करके जो स्थित है, वह महात्मा है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

'आत्मानं महान्तं मत्वा धीरो न शोचति'—अपने आत्माको महान् अनुभव करके धीर पुरुष शोक-मोहसे पार हो जाता है।

वह महापुरुष है, दूसरे सब पुरुष हैं। जिसमें आत्मा-परमात्मा मिल गये, वह महात्मा है। ऐसा महात्मा ज्ञानी ही होगा। ऐसा ज्ञानी कब होगा?

बहूनां जन्मनामन्ते चरमे अन्तिमे जन्मनि ज्ञानवान् भवति। जिसकी सारी वासनाएँ निवृत्त हो गयीं या पूर्ण हो गयीं, उसका वह अन्तिम जन्म है; क्योंकि वासना ही जन्मान्तरका हेतु है।

वासनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। वे पूरी होकर मिटनेवाली नहीं हैं। वासना तो आग है :

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

मनुजीने कहा है कि 'इस कामनाकी आगमें जितनी भोगरूप आहुति डालेंगे, वह उतनी और भभकती जायगी। वासना पूर्ण करनेसे नहीं मिटती। उसे अन्तमें कहीं न कहीं निवृत्त करना, छोड़ना ही पड़ता है।

जब आगेके लिए कोई वासना शेष नहीं रहती तभी वह अन्तिम जन्म होता है। ऐसे निर्वासन जीवनमें तत्त्वज्ञान हो जाय तो वही जन्म-मरणकी परम्परा निवृत्त कर देता है। वह महात्मा होता है: स महात्मा भवति।

इस महात्माकी प्रपत्ति किंरूपा है?

जिज्ञासुको कहना पड़ता है: तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।

शिष्यको कहना पड़ता है: त्वां प्रपन्नम्।

चलनेवालेको भगवान् कह रहे हैं: 'मां प्रपद्यते।'

तब ज्ञानीकी शरणागति क्या है? कहते हैं: वासुदेवः सर्वमिति। यहाँ प्रपत्तिका अर्थ है उपलब्धि, अनुभूति। महात्माको अनुभव हो रहा है: 'वासुदेवः सर्वम्—ईश्वरात्मना, कारणात्मना, हिरण्यगर्भात्मना, सूक्ष्मात्मना, विराडात्मना, स्थूलात्मना।' एक अद्वितीय ब्रह्म ही प्रतीत हो रहा है, यह उसकी उपलब्धि है।

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।

विष्णुपुराणमें शरणागतिका यह स्वरूप बतलाया है कि 'यह परमात्मा है और मैं भी परमात्मा हूँ।' अर्थात् सबके शरीरोंमें पृथक्-पृथक् स्फुरित होनेवाला 'मैं' भी परमात्मा है।' 'इदं' 'अहं' दोनोंके रूपमें वही परमात्मा भास रहा है, परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज नहीं।

सकलमिदमहं च वासुदेवः।

—विष्णुपुराण

यह सब और मैं भी वासुदेव हूँ। ज्ञानीकी प्रपत्तिका स्वरूप है: 'वासुदेवः सर्वम्।'

विष्णुपुराणमें 'वासुदेव' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ दी हुई हैं : 'वसत्यस्मिन्निति वासुः अधिष्ठानम् ।' अर्थात् जिसमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च रहता है, वह वासु है । व्यति स्वयं प्रकाशते इति वासुदेवः ।' यह वासु जड़सत्ता नहीं, सर्वाधिष्ठान स्वयंप्रकाश वासुदेव है ।

'वसति सर्वस्मिन्निति वासुः' : जो सबमें रहे, वह वासु है । परमात्मा वासु है; क्योंकि सबमें बसता है । जो सबमें रहे, जिसमें सब रहें और जो स्वयंप्रकाश हो, वह वासुदेव है ।

'वासुदेव' नामसे श्रीकृष्ण प्रसिद्ध ही हैं । श्रीमद्भागवतमें आया है : सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम् । अर्थात् विशुद्ध सत्त्व-शुद्ध अन्तःकरणको 'वसुदेव' कहते हैं । वासनारहित शुद्ध अन्तःकरण वसुदेव है । उसमें जो प्रकट हो, वह 'वासुदेव' है ।

शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माका प्राकट्य होता है । परि-स्थितिसे प्रभावित अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन नहीं होता । देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्थासे अप्रभावित अन्तःकरणमें परमात्मा प्रकट होता है । वह शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकट होनेवाला वासुदेव ब्रह्म है ।

सुदुर्लभः । भगवान् सब हैं, सुलभ हैं, किन्तु महात्मा दुर्लभ है । तत्त्वरूपसे भगवान् सर्वरूप हैं, अतः सुलभ हैं; किन्तु उन्हें पहचाननेवाला दुर्लभ है । भगवान् सर्वत्र होनेपर भी तभी मिलते हैं जब कोई परिचय करा दे ।

महत्सङ्गो दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।

—नारद-भक्तिदर्शन

पहले तो महात्मा मिलते ही नहीं । कहीं मिल जायँ तो

'अगम्य:' होते हैं। आप पहचान ही न सकेंगे कि ये महात्मा हैं; क्योंकि आपने अपने मनमें ईश्वर और महात्माकी एक पहचान बना ली है और उसीसे ढूँढ़ते हैं। इससे न ईश्वर मिलता है और न महात्मा। आपकी पहचानकी कसौटी ही गलत है। यदि पहचानमें आ जाय तो 'अमोघश्च' उसका संग अमोघ है। कभी व्यर्थ नहीं जाता।

'सु' औ 'दुर्' ये दो उपसर्ग हैं और 'लभ्' धातु है। 'लभ्'से ही लाभ बनता है—'सुलभ:, दुर्लभ:'। यह महात्मा सुलभ है और यह महात्मा दुर्लभ है।

एक ही व्यक्ति सुलभ-दुर्लभ दोनों कैसे? जो श्रद्धालु हैं, संसार तापतप्त हैं, उनके लिए महात्मा सुलभ हैं और जो संसारासक्त तथा श्रद्धासम्पन्न नहीं हैं, उनके लिए दुर्लभ हैं। ●

२५. काम-हत प्रपन्न नहीं होते !

संगति :

यहाँतक भगवान्‌ने **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्** की व्याख्या की। अब जो कहा था कि **उदाराः सर्वं एवैते** अर्थात् आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु भी उदार या श्रेष्ठ हैं, उनकी श्रेष्ठताका कारण बतलाते हैं कि ये आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु होनेपर भी भगवान्‌की शरण लेते हैं। किन्तु भाग्यके मारे, कामनाओंके मारे संसारी लोग तो भिन्न-भिन्न देवताओंकी शरण लेते हैं।

अपने भक्तोंकी श्रेष्ठता बतलानेके लिए चार श्लोकों द्वारा भगवान् अन्य देवताओंकी शरण लेनेवालोंकी स्थिति-गति बतलाते हैं :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

उन-उन कामनाओंसे जिनका ज्ञान हरण कर लिया गया है, वे अपनी प्रकृतिसे प्रेरित होकर वैसे-वैसे नियमोंका पालन करते हुए अन्य देवताओंकी शरण लेते हैं।

प्रकृत्या नियताः स्वया। अपनी प्रकृति या स्वभावने, जन्म-जन्मकी संस्कारजनित वासनाओंने उन्हें मुट्ठीमें बाँध रखा है। लोग अपनी वासना, प्रकृति और संस्कारोंमें फँस जाते हैं। अपने

बनाये बन्धनमें ही बँधते हैं। कोई बुराई छोड़नेको कहे तो कहते हैं : 'अब तो यह मेरा स्वभाव बन गया।'

लेकिन बनाया गया स्वभाव छोड़ा जा सकता है। स्वभाव-विजयः शौर्यम्। भागवतकार कहते हैं कि जीवनमें शौर्य है अपने स्वभावको जीत लेना। गाली देने या किसी कामना-पूर्तिकी आदत पड़ गयी हो, तो उसे छोड़ दें। यह बनाया हुआ स्वभाव है, ईश्वरका या प्रकृतिका दिया हुआ नहीं। यह आपका ही बनाया हुआ है। आपकी आंख, जीभ और हाथको बुरी आदत पड़ गयी है। उसपर आप विजय पा ही सकते हैं।

जीवनमें तमोगुणी और रजोगुणी जैसी प्रकृति पड़ गयी है। उसीके द्वारा आप नियन्त्रित हो गये हैं। 'प्रकृत्या नियताः स्वया' : उसके हाथोंमें अपने आपको छोड़ दिया है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः। कामना एक नहीं, हजार हैं। प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। शरण लेनेके लिए देवता भी हजारों हैं। काम तो तम, नरक, अज्ञान या दुःखमें प्रवेशका द्वार है। मृत्यु, अज्ञान या दुःखका नाम तम है। कारण, पता नहीं कि मृत्युके बाद अज्ञान और दुःखमें क्या होगा ?

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
> एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
> आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
>
> —गीता

काम, क्रोध, लोभ ये तम या नरकके द्वार हैं। काम-क्रोध परमात्माके मार्गके सबसे बड़े बाधक हैं। विषयीकी कामनामें

कोई बाधा डाले तो वह कहेगा : 'यह मेरा शत्रु है।' साधककी कामनामें कोई बाधा डाले तो वह कहेगा : 'यह मेरा हितैषी है।'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

—गीता

इसी कामनाके निमित्त लोभ, प्रकृति, कर्मारम्भ, अशान्ति और स्पृहामें मनुष्य फँसता है। काम तो महाशन, अघासुर है। इसका कभी पेट भरता नहीं। महापाप्मा है, चाहे जितनी तुष्टि करो, पर यह कृतज्ञ नहीं होगा, बड़ा पापी है। तुम जितना दोगे, लेता जायगा और माँगता जायगा। तुम्हें नष्ट कर देगा। अतः अपने शत्रुको पहचानो। यहाँ कोई अपना शत्रु है, तो वह काम है।

काम ज्ञानपर पर्दा डाल देता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।

जैसे कोई मार्गमें जा रहा हो और पीछेसे आकर कोई नेत्रपर ही पट्टी डालकर बाँध दे—ऐसा यह डाकू है। कामके आवेगमें न आपा सूझता है न गुरु और न वेद। न धर्म सूझता है और न सम्प्रदाय। यह ज्ञानको ढँक देता है। केवल ढँक ही नहीं देता, ज्ञान छीन लेता है : 'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।' यह डाकू है डाकू! एक नहीं, हजारों कामनाएँ आयीं और ज्ञान हरण करके ले गयीं। अतः

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

—गीता

ये ज्ञान-विज्ञानका नाश कर देनेवाले शत्रु हैं। अतः—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।

इस कामरूप असह्य शत्रुको मार डालो। इन्द्रियोंके नियमनसे कामका त्याग होता है। आत्माको जाननेसे कामकी मृत्यु होती है। काम हमारी इन्द्रियोंको ढँक देता है :

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

आग जलती रहती है और धुँआ भी निकलता रहता है, यह सत्त्वगुणका काम है। शीशेपर जो धूलि रहती है, वह उसे कहीं ढँकती है, कहीं नहीं ढँकती; यह रजोगुणका आवरण है। जरायुसे गर्भ ढँकने जैसा आवरण तमोगुणका है। ये तीनों सात्त्विक, राजस, तामस काम हमारे ज्ञानको ढँक देते हैं। ज्ञान-विज्ञानका नाशक यह काम 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'—साधक, जिज्ञासुका नित्य वैरी है।

जो विषयी हैं, उन्हें काम कभी सुख देता है तो कभी दुःख देता है। जिज्ञासु और साधकको तो भोगके पहले डर लगता है और भोगके अनन्तर पश्चात्ताप होता है। उसे तो वह सदा दुःख ही दुःख देता है।

राम-रावण-युद्धमें राक्षस नाना प्रकारके रूप धरकर वानरोंपर आक्रमण करते थे। एक दिन रावणके आदेशसे सब राक्षस गाय बन गये, वानरोंपर टूट पड़े और उन्हें सींगोंसे मारने लगे। श्रीराम गायोंपर बाण कैसे चलाते? वानर भी पत्थर न मारें। विभीषणने कहा : 'प्रभो, यह राक्षसी माया है।' तब श्रीरामने व्याघ्रास्त्रका प्रयोग किया। सहस्रों बाघ प्रकट होकर दौड़े तो राक्षस

गोरूप छोड़कर भागे। इसी प्रकार काम नाना वेष बनाता है। कभी सेठ, कभी भिखारी, कभी विरक्त, कभी महन्त, कभी भोगी तो कभी योगी बनता है।

कामरूपं दुरासदम् : जैसे राक्षस ब्राह्मण, देवता, साधु आदि सब रूप बना लेते हैं, वैसे ही काम सब रूप बना लेता है। पशु-पक्षी भी बन लेता है। बकासुर, वत्सासुर, केशी भी राक्षस हैं। ऐसे ही कामका रूप दुरासद है, पकड़में नहीं आनेवाला है।

'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः' : उन-उन वस्तुओंकी कामना। जैसे शब्दविषयक कामना है तो उसमें प्रशंसा सुननेकी कामना, संगीत प्रेम और उसमें भी नाना वाद्य; नाना राग, काव्य, भाषा, स्वर इनमेंसे अलग-अलग रुचि। किसीको धन-चर्चा प्रिय है, किसीको स्त्री-चर्चा, तो किसीको युद्ध-चर्चा प्रिय है। ऐसे ही स्पर्श, गन्ध, रस, रूपके सहस्त्रों भेद हैं। किसीको त्यागकी कामना होती है। तात्पर्य यह है कि कामनाके इतने रूप हैं कि उन्हें पहचानना कठिन है। निरभिमान होनेका भी अभिमान होता है। निष्काम होनेका, सादगीका अभिमान होता है। नाना रूप धरकर कामना मनुष्यके ज्ञानका अपहरण करती है।

राम एक होता है, काम अनेक होते हैं। काम हृदयमें एक होकर आता है और आकर अपनी शाखाओंका विस्तार कर लेता है। जैसे एक मनुष्यके मनमें गुलाबका फूल लेनेकी कामना हुई। साधारण-सी बात है। जब गुलाबका फूल हाथमें आया तो आप उससे क्या चाहते हैं? सूंघनेकी इच्छा, गन्ध-कामना। देखनेकी इच्छा, रूप-कामना। नेत्रादिमें लगानेकी इच्छा, उसकी कोमलताका सुख लेना, स्पर्श-कामना। माला बना पहननेकी इच्छा सौन्दर्याभिमान पुष्ट करनेकी कामना। पुष्प बहुत देरतक बना रहे, ऐसा

पुष्प प्रतिदिन मिले। घरमें ही गुलाबका पौधा लगा लें, गुलकन्द बनाकर खायें—इस प्रकार एक गुलाबका फूल हाथमें आया तो था साधारण कामनाके साथ; किन्तु—

तरंगायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति।

—भक्तिदर्शन

कामना हृदयमें तरंगके समान आती है और विषय मिलता है तो समुद्र बन जाती हैं। इसको 'अंगुली पकड़कर पहुँचा पकड़ना' कहते हैं।

यह 'भिक्षुपाद-प्रसारण' न्याय है। एक भिखारी आकर बोला: 'बहुत थक गया हूँ। तनिक बैठ जाने दीजिये।' जरा देरमें बोला: 'पैर फैलाये बिना कष्ट होता है' और पैर फैला लिया। फिर कहने लगा: 'धूप लगती है, छाता खोल लें।' छाता लगा लिया। फिर: 'कबतक छातेको पकड़े रहे? गाड़ देते हैं।' छाता भूमिमें गाड़ लिया। अब बोला: 'यह भूमि तो मेरी है। यहाँ मेरा छाता गड़ा है।'

जहाँ काम तहं राम नहिं, जहां राम नहिं काम।

कामके पेटमें धन, स्त्री, यश जो कुछ डालोगे, उससे वह बढ़ेगा। वह अघासुर है। लेकिन कामके पेटमें कृष्णको डाल दो तो उनके चरणारविन्दके स्पर्श होते ही काम 'कृष्णवर्त्मा' (अग्नि) बन जाता है—भस्म हो जाता है।

कामका निवास कहाँ है?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

—गीता

शरीररूपी रथके घोड़े हैं इन्द्रियाँ, बागडोर है मन और सारथि है बुद्धि। यह काम हमारे घोड़ोंमें, बागडोरमें, सारथिमें रहता है। देखो कि ये घोड़े तुम्हें कहाँ ले जाते हैं—जहाँ वासनाएँ बढ़ें वहाँ या जहाँ निवृत्त हों वहाँ; तुम्हारा सारथि काम है या श्याम?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता

इन्द्रियाँ चलीं आगे विषयोंकी ओर, पीछे चला मन, मनके पीछे चली बुद्धि, तो सत्यानाश हो गया! इससे ज्ञान ढँक जाता है। ईश्वर-कृपासे, सद्गुरुके प्रसादसे, पूर्व-जन्मके पुण्यसे जो समझदारी प्राप्त होती है, कामना उसे छीन लेती है।

यह चिन्तामणि अपना संकल्प ही है। तुम सोचते रहो कि 'भगवान्‌से मिलेंगे' तो अवश्य मिलोगे। पर सोचते रहो कि 'भगवान्‌से अलग हो जायँगे' तो अलग हो जाओगे। तुम्हारी कामना पूरी होगी। एक बड़े विद्वान् कहते हैं: 'ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र आदि सब देवता तुम्हारी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता होकर तुम्हारे शरीरमें ही निवास करते हैं। तुम बुद्धिद्वारा मनसे आज्ञा देते हो: 'हाथ उठ!' तो इन्द्र हाथ उठाता है। सब देवताओं-का निवास शरीरमें ही है और उनका आश्रय है आत्मा। सब देवता उसके आश्रित हैं।'

जब हम आश्रित होकर कहते हैं कि 'हे देवताओ! हम तुम्हारी शरण हैं, तुम हमारा काम बनाओ!' तो हम आश्रयरूप अपनेको आश्रित मान लेते हैं। यह सर्वथा विपरीत ज्ञान हो

गया। आप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परब्रह्म हैं और अपने भीतर मिथ्या प्रतीत होनेवाले देवताओंके वशीभूत होकर भिक्षुक बन गये हैं!

पहले बुद्धिसे निश्चय करें। फिर मन उसके अनुकूल सोचे। फिर इन्द्रियाँ वैसा व्यवहार करें, यह उत्तम व्यक्तिका मार्ग है। यह प्रज्ञाका मार्ग है।

इन्द्रियाँ गुरु हैं और मन-बुद्धि शिष्य; या बुद्धि गुरु है और मन-इन्द्रियाँ शिष्य? अन्ततः तुम्हारा जीवन कैसा है?

इन्द्रियोंका काम केवल प्रकाश करना है; क्योंकि ज्ञानका काम प्रकाश करना है, चाहना नहीं। नेत्र रूपको, कान शब्दको, नाक गन्धको, जीभ रसको, त्वचा शब्दको बता देती है। उसमें 'यह अच्छा, यह बुरा' अपने संस्कारके अनुसार हम सोचते हैं। पूर्वजन्मोंके संस्कारोंके अनुसार जो वासना है, उसीके अनुसार हम इन्द्रियोंको उन-उन विषयोंमें लगाने लगते हैं।

'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः।' यह स्त्री है, यह पुरुष है, इतना बतलाना ज्ञानका काम है। यह शत्रु है या मित्र, प्रिय है या अप्रिय, सुखद है या दुःखद अथवा साथ रहे या न रहे—यह बतलाना ज्ञानका काम नहीं। वह वासनाका काम है। यदि शुद्ध ज्ञानद्वारा हमारा जीवन संचालित होगा, तो वह ईश्वरीय जीवन होगा और काम द्वारा संचालित होगा तो निश्चय ही ऐन्द्रियक जीवन होगा।

एक-एक इन्द्रियके विषयमें अनेक-अनेक काम होते हैं, यह चित्तकी स्थिति हुई। अब कामनाओंकी पूर्ति कैसे करें? ईश्वरपर दृष्टि नहीं गयी, तो दूसरे उपायोंपर जायगी ही।

'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:' : जब कामना होती है तो समझ साथ छोड़ देती है। कभी समझ थोड़ी भी तो टिकती नहीं; क्योंकि स्थितप्रज्ञके प्रसंगमें कहा गया है :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

जब कामनाका परित्याग करेगा, तब प्रज्ञा स्थित होगी। जो कामके अधीन हो जाता है, वह समझदारीसे हाथ धो बैठता है। इस नासमझीका नमूना है कि मानव ईश्वरके अतिरिक्त दूसरेकी शरण ग्रहण करता है।

प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:। धन मिलेगा सेठसे, भोजन मिलेगा होटलमें, संगीत-नृत्य मिलेगा क्लबमें! कई स्थानोंपर जाना पड़ेगा; क्योंकि एक ही जगह सब चीजें नहीं मिलतीं। ईश्वरको छोड़कर जो अपनी वासना पूरी करना चाहेगा, उसकी सब वासनाएँ एक जगह पूरी नहीं होतीं। नेत्रसम्बन्धी वासनाएँ सूर्यसे, रसनासम्बन्धी वासनाएँ वरुणसे, त्वचासम्बन्धी वासनाएँ वायुसे पूरी होंगी। एक-एक विषयका एक-एक अधिष्ठाता देवता है। अत: जो ईश्वरको छोड़कर अन्यकी शरण ग्रहण करेगा, वह एकके प्रति अनन्य नहीं रह सकता।

ईश्वरकी प्रपत्तिमें एक विशेषता है कि एकबार उसकी शरण लेनेपर फिर दूसरेकी शरण लेनेकी जरूरत नहीं रहती। ईश्वर परम दयालु है। वह मनुष्यकी कोई ऐसी कामना पूरी नहीं करता, जिससे नरकमें जाना पड़े या उसका अमंगल हो। जिससे मनुष्यका भला हो, वही कामना पूरी करता है। सब-कुछ उसमें भरपूर है :

आपूर्यमाण - मचलप्रतिष्ठं
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामाः यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

—गीता

जो कामनापूर्तिके लिए यहाँसे वहाँ भटकता रहता है, उसे कभी शान्ति नहीं मिलती। शान्ति उसे मिलती है जो अपने स्थानपर बैठा है। संसारके भोग उसके पास अपने आप आते हैं।

कामके बाप कृष्ण हैं। कामनाओंका—संसारका कारण जो परमात्मा है, उससे एक होकर जो बैठा है, सम्पूर्ण कामनाएँ उसमें आकर प्रवेश करती हैं; क्योंकि कार्यका प्रवेश कारणमें होता है। उसे अपनी कामना पूर्ण करनेके लिए किसीके पास जाना नहीं पड़ता।

अन्य देवता एक ही कामना पूरी कर सकते हैं। वह भी तब, जब उनमें वह सामर्थ्य हो। किसी भक्तने शीतला देवीकी आराधना की। देवी प्रकट हुईं, बोलीं : वर माँगो !'

भक्त : 'मुझे एक उत्तम घोड़ा चाहिए !'

देवीने सिर पीट लिया : 'मूर्ख ! मेरे पास घोड़ा होता तो मैं गधेपर क्यों चढ़ती ?'

एक-एक देवता एक-एक विषयके स्वामी होते हैं। एक ईश्वर ही सब विषयोंका स्वामी है। कामने तुम्हारा ज्ञान नष्ट किया तो भिन्न-भिन्न देवताओंसे सम्बन्ध जोड़ना ही पड़ा, द्वार-द्वार भटकना पड़ा। सबसे कहना पड़ा : 'हे भूत ! हे भैरव ! हमारे हृदयेश्वर, प्राणेश्वर, सर्वेश्वर तुम हो।' जिसके सामने जाओ, उसीको दिखलाना पड़ता है कि तुम उसीके भक्त हो। यह हृदयका वेश्यापन आ गया !

तं तं नियममास्थाय। देवताओंकी शरण ली तो देवताकी कृपापर भी आस्था नहीं। वह अद्भुत-अद्भुत नियम ग्रहण करता है : 'इससे काम पूरा नहीं हुआ तो अब यह नियम लेंगे।' उसकी आस्था देवतापर नहीं है, अपने अभिमानसे होनेवाले नियमोंपर है। ऐसा सब इसलिए होता है कि प्रकृति ही उसका सञ्चालन कर रही है। वह भी मूलप्रकृति नहीं, बल्कि 'स्वया प्रकृत्या नियताः स्ववासनारूपया प्रकृत्या नियताः' है। यह उसकी व्यक्तिगत वासनासे बनी प्रकृति है। उसने वैसे काम करके वैसा स्वभाव बना लिया है।

'तं तं नियममास्थाय' : पृथक्-पृथक् देवताओंके लिए नियम भी पृथक्-पृथक् पालन करने पड़ते हैं। किसीके लिए श्मशानमें जाकर कोई साधना करनी पड़ती है, तो रातमें जाकर मुर्देपर बैठना पड़ता है। देवताके अनुरूप नियम-पालन न करो, तो देवता ही प्रसन्न न हो।

एक देवताकी आराधनामें सब कपड़े उतारकर नग्न होकर उनके मन्त्रका जप करना पड़ता है। एक देवताको प्रसन्न करना हो तो शरीरमें गन्दगी लगाकर उनकी सेवा-पूजा करनी पड़ती हैं। एक देवताकी आराधना मुख जूठा करके करनेका नियम है। किसी देवताको प्रसन्न करनेके लिए स्नान करते-करते जप करना जरूरी माना गया है।

ईश्वरको छोड़कर दूसरोंकी आराधना करने लगोगे तो उन-उन देवताओंकी आराधनाके नियमोंका पालन करना ही होगा।

इतना झगड़ा है तो लोग इसमें फँसते क्यों हैं?

'प्रकृत्या नियताः स्वया' : लोग अपने सजातीयके साथ ही

जाते हैं। जहाँ उनका मन, स्वभाव मिलता है, उसके पास जाते हैं। जुआखाना, शराबखाना या वेश्यालयमें जाकर खुश होना जैसे निम्नवासना या निम्न-प्रकृतिका सूचक है, वैसे ही ईश्वरकी शरण जाना उच्च प्रकृतिका सूचक है और तत्तद् देवताओंकी शरण जाना निम्नप्रकृतिका सूचक है। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार सबके संस्कार हैं। उन्हीं संस्कारोंके अनुसार, वासनाके अनुसार देवता प्रिय होते हैं।

२६. भगवान् ही फलदाता

संगति :

प्रभो ! लोग तो अपने संस्कार और प्रकृतिके अनुसार चलते हैं; पर आप क्या करते हैं ?

एक वात यह भी है कि कोई सोचे—'देवताकी शरण ले रहे हैं, उन-उन नियमोंका पालन कर रहे हैं, तो देवता किसी दिन कृपा करेगा ही और उसकी कृपासे उसकी भक्ति मिल जायगी।' पर ऐसा नहीं है। वह देवता भगवान्में भक्ति नहीं देता। जिस देवताकी तुम शरण लेते हो, वह सदा तुम्हें अपना पशु बनाकर रखता है। वह तुम्हें ईश्वरसे विमुख बनाये रखता है।

मनमें तरह-तरहकी कामना, समझदारीकी हानि, बहुतोंकी शरण, भिन्न-भिन्न नियमोंका ग्रहण—यह सब वासनाका विलास है। अपनी बनायी बुरी आदतोंका मनुष्य निश्चय ही सुधार कर सकता है। इनको सुधारनेमें ही साधन-भजनकी चरितार्थता है; क्योंकि जीवनमें आयी बुराइयोंको निकालनेके लिए ही साधन हैं।

अब यदि उन्हें तुम स्वयं दूर नहीं करते, तो ईश्वर तो प्रकाशक है, वह सबको प्रकाशित करता है। सबको शक्ति और सामर्थ्य देता है। इसलिए :

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

जो-जो भक्त जिस-जिस देवताके रूपकी श्रद्धासे अर्चना करना चाहता है, उसकी उसी रूपमें श्रद्धा अचल कर देता हूँ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः। ईश्वर कहता है कि 'जब मैं तुम्हें पसन्द नहीं, दूसरा ही पसन्द है, तो वही सही।

नित्य-सम्बन्ध तो ईश्वरसे ही रहेगा। दूसरेसे जो सम्बन्ध है, वह तो टूटकर रहेगा। अभी वहीं आग्रह है तो वहीं लगो। अतः भगवान् कहते हैं कि जो भक्त जिस-जिस तनुपर श्रद्धा करता है और श्रद्धाके द्वारा उसकी अर्चा करना चाहता है, उस-उस भक्तकी उसी तनुके प्रति श्रद्धा अचल कर देता हूँ।

प्रश्न तो है तनुका। क्या सर्पको दूध देते समय या भूत-भैरवकी पूजा करते समय उस एक ईश्वरका ज्ञान तुम्हें रहता है, जो सबके भीतर एकशरीरके रूपमें बैठा है? मुख्य प्रश्न पुजारीके भावका है।

एक मनुष्य बड़ी श्रद्धासे किसी देवताकी भक्ति करता है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं उसी देवता-शरीरके प्रति उसकी श्रद्धा अचल कर देता हूँ।'

कोई भैरवकी, कोई हनुमान्की, कोई सूर्यकी, कोई गणेशकी, कोई इन्द्रकी तो कोई कुबेरकी आराधना करते हैं। लोग प्रार्थना करते हैं:

कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु।

अर्थात् मैं कामनाओंको चाहनेवाला हूँ। कामनाओंके स्वामी कुबेर मेरी कामना पूर्ण करें।

कोई किसीकी मूर्तिपूजा करता है, कोई किसीकी। सच बात यह है कि ये मूर्तियां पृथक्-पृथक् हैं; शरीर अलग-अलग हैं, पर

सब मूर्तियोंमें, सब तनुओंमें ईश्वर एक ही है। सूर्य, शक्ति, गणेश भूतभैरव, हनुमान्, इन्द्र, कुबेर सबमें वही है। इसीसे ईश्वरको आग्रह भी नहीं है कि अमुक रूपसे ही उसकी पूजा की जाय।

जैसे किसी व्यक्तिके एक अंगकी तो सेवा की जाय, पर उसीके दूसरे अंगकी उपेक्षा कर दी जाय--त्वचाकी सेवा की जाय, गद्दा बढ़िया बिछा दिया जाय, पर खिलाया न जाय, तो क्या उसकी ठीक सेवा हो रही है? ऐसे ही सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें, सब शरीरोंमें ईश्वर व्याप्त है। यदि केवल कामना ही होती तो भक्त रजोगुणी होता, पर 'हृतज्ञानाः' होनेसे वह तमोगुणी हो गया है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

—गीता १८.२२

सम्पूर्णके समान एक ही में—कार्यमें आसक्त हो गये। 'इससे मुक्ति मिलेगी या भगवान्' यह विचार छूट गया। वह तत्त्व नहीं है, केवल आकृति है। परिच्छिन्न है, अल्प है। इस प्रकारकी एक देवता-शरीरमें आसक्ति तमोगुणी है। श्रद्धाके भी सात्त्विक, राजस, तामस भेद हो जाते हैं; किन्तु जब कोई श्रद्धासे पूजा करना चाहता है तो भगवान् बुद्धिभेद नहीं करते :

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

—गीता

'अच्छा, कहीं फँस गये तो वहीं लगो! हम उसी मूर्तिके प्रति तुम्हारी श्रद्धा अचल किये देते हैं।'

श्रद्धा = किसीको सत्य मानना। 'यही सच्चा और यही हमारी कामना पूर्ण करेगा!' इसका नाम है श्रद्धा।

भगवान्ने यह बहुत अच्छा तो नहीं किया; किन्तु किसी मोह-ग्रस्तकी पकड़को सहसा छुड़ाना भी तो अच्छा नहीं है। ऐसा करनेसे उसकी हानि होती है। जहाँ श्रद्धा है, उसीको व्यक्ति विश्वसनीय मानेगा, अन्यत्र शंका होगी। अतः भगवान् श्रद्धा तोड़ते नहीं, स्थिर करते हैं।

२७. सबका फलदाता मैं ही

संगति :

भगवान्‌को छोड़कर जो अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना क्या निष्फल होती है ? भगवान् कहते हैं : 'नहीं, उसका फल मैं देता हूं' :

> **स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।**
> **लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ २२ ॥**

वह उस श्रद्धासे युक्त होकर उसी देवमूर्तिकी आराधना करता है और मेरे द्वारा प्रदत्त। अभीष्ट उसी देवमूर्ति द्वारा प्राप्त करता है।

मेरे पास आनेवालोंमें कोई सीधे मुझसे बात करता है। कोई प्रबुद्धानन्दसे बात करता है। कोई रसोइये या कहारसे बात करता और उसीके द्वारा अपनी सभी बातें पूरी करना चाहता है। समान प्रकृतिको ढूँढ़कर मनुष्य मैत्री किया करता है।

तस्याराधनम्। 'तस्यास्तन्वा राधनम्'—आचार्योंने ऐसा ही अन्वय किया है। वह उसी तनु, देवमूर्तिकी आराधनामें लगता है।

लभते च ततः कामान्। उसी तनु या देवमूर्तिसे वह अपनी कामना-पूर्ति पाता है। जैसा देवता, वैसा ही फल वह देगा। इन्द्रकी आराधना करोगे तो हाथोंमें वज्र आयेगा। इन्द्र स्वर्गका

भोग दे सकता है। वर्षा कर सकता है। कुबेरकी आराधना करोगे तो वह धन देगा।

एक जन्ममें कामना पूरी न हुई तो दूसरे जन्ममें होगी। एक जन्ममें वासना शान्त नहीं होगी तो दूसरे जन्ममें होगी।

मयैव विहितान् हि तान्। देवताओंमें सामर्थ्य नहीं है। वे कामना पूरी नहीं करते। यदि उपासककी कामना पूरी हो सकती, तो एक देवता एक कामना पूरी करता। जैसे अश्विनीकुमारकी आराधना। सुन्दर यदि तुम केवल सुगन्ध चाहते हो तो नासिकाका देवता अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर तुम्हारी नासिकामें ऐसी योग्यता उत्पन्न कर दे सकता है कि तुम सूक्ष्मसे सूक्ष्म गन्ध ग्रहण कर सको। लेकिन तुम क्या केवल गन्ध पाकर सन्तुष्ट होगे? तुम्हें तो गन्धके साथ गुलाबका पुष्प भी चाहिए। पुष्पकी कोमलता वायुदेवताके क्षेत्रमें है। सुन्दरता या रूप सूर्यदेवके अधिकारमें है। यहाँ अकेले अश्विनीकुमार क्या करेंगे? अश्विनीकुमारको गुलाबकी कोमलता, सौन्दर्य जुटानेके लिए वायु और सूर्यकी सहायता माँगनी होगी, तभी वे एक दिव्य गुलाब पुष्प दे सकेंगे।

सब देवताओंमें समन्वय करनेवाला ईश्वर है। भगवान् कहते हैं: 'कौन किस देवताकी आराधना कर रहा है, इसको मैं जानता हूँ। वह देवता तो उसकी कामना सम्यक् रूपमें पूरी कर नहीं सकता। देवताओंका विभाग ही एक-एक इन्द्रियोंवाला है, अतः बात तो देवताओंकी मुझतक ही पहुँचती है। मैं ही आराधककी कामना पूरी कर देता हूँ।

श्री जवाहरलाल नेहरू अपरिचित साधुओंसे मिलना पसन्द

नहीं करते थे; किन्तु जब पता लगता कि 'नन्दाजी इनका बहुत आदर करते हैं, तब उससे मिल लेते थे।

भगवान् अपने नामसे सीधे ही क्यों उपासककी कामना पूरी नहीं करते ? ऐसा करनेपर वह जिसका भक्त है, वहाँसे उसकी निष्ठा विचलित हो जायगी। अतः वह तो यही समझता है कि मैं जिसकी सेवा करता हूँ, मेरा अभीष्ट उसीने दिया है। ईश्वरको तो किसी-को अपना कृतज्ञ बनानेकी आवश्यकता नहीं है। जिसे कृतज्ञ बनाना होता है, वह किसीको कुछ देता है तो दिखाकर देता है। ईश्वर किसीपर अपना एहसान नहीं लादता।

व्यक्ति अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार देवताओंकी आराधना करता है और उन-उन आराधनाओंका फल उसे भग-वान् देते हैं। कोई चपरासीसे मिलकर ही सन्तुष्ट है तो उसकी माँग चपरासी द्वारा ही पूरी कर दी गयी, उससे मिलनेकी क्या आवश्यकता है।

भगवान् श्री शंकराचार्यने 'मयैव विहितान् हितान्' यह पदच्छेद किया है; क्योंकि अपनेको अपूर्ण या अभावग्रस्त माने बिना कामनाका उदय नहीं होता और कामना ज्ञानका हरण कर लेती है। इस अज्ञानके कारण अन्य देवताओंकी शरण ली जाती है। तब कामनाके अनुसार जो फल भगवान् देते हैं, उनको 'हितान्' अपने लिए कल्याणकारी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान् उन-उन फलोंको देता है, इतना ही तात्पर्य है। ●

१८. ईश्वरसे फलेप्सुका अन्तर

संगति :

सब देवताओंमें ईश्वर ही है और उन देवताओंके उपासकोंको भी ईश्वर ही फल देता है, तो उन देवताओंके उपासकोंमें त्रुटि क्या हुई ? उन्होंने ईश्वरके ही एक अंगकी उपासना की और ईश्वरका ही भेजा फल प्राप्त किया। तब उनमें और भगवान्‌के साधारण भक्तोंमें अन्तर क्या रहा ?

अन्तर तीन बातोंका रहता है: १. उनकी वृत्तिका, २. मिलनेवाले फलका और ३. उनकी अन्तिम गतिका।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

उन अल्पबुद्धि लोगोंको मिलनेवाला फल विनाशी होता है। देवताओंके उपासक देवताओंके पास जाते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं।

अन्तवत्त फलं तेषाम्। मेरा दिया हुआ वह फल जो उन-उन देवताओंकी सेवा करनेके बदले में भेजता हूँ, उनके परिश्रमके अनुरूप और अन्तवान् यानी विनाशी होता है।

जो देवताकी शक्तिसे मिलता है, उसमें ईश्वर अपनी शक्ति

प्रकट नहीं करता। जहाँ परिपूर्ण ईश्वरकी प्राप्ति न हो, वह फल अन्तवत् होगा।

वस्तुको लेकर जो अपने हृदयमें 'अहं'का उदय होता है, वही फल है। हमारे घरमें बड़ा भारी खजाना हो, पर हमें मालूम न हो तो उस खजानेके मिलने अथवा होनेका कोई लाभ है ? वस्तु और अहंका मिलन ही फल है। संसारकी कोई भी वस्तु जो मिलती है, उसके साथ अपना अहं सदा जुड़कर नहीं रह सकता। रुपया मिला, खर्च हो गया, फिर दैन्य आ गया। संसारकी सब वस्तुएँ क्षणिक, नाशवान् होती हैं। अतः वह देवताओंसे मिला फल अन्तवत् है।

अल्पमेधसाम्। अल्पमें उनकी मेधा है। छोटी-छोटी वस्तुओंमें उनकी बुद्धि लगी है।

'धीर्धारणावती मेधा।' : देखे-सुने और जाने हुए पदार्थोंकी धारणा करनेवाली बुद्धिको 'मेधा' कहते हैं। उनकी मेधा अल्प-विषया है।

इन्द्रकी आराधना की तो इन्द्र अल्प है। वह केवल स्वर्गका राजा है। ब्रह्माके एक दिनमें चौदह इन्द्र बदलते हैं।

यदल्पं तन्मर्त्यम्, यो वै भूमा तत्सुखम्।

जो अनन्त है, वह सुख है। जो अल्प है, वह मरनेवाला है। जिस वस्तुको देवताओंका उपासक चाहता है, वह छोटी है और जिससे चाहता है, वह छोटा है एवं इस आराधनासे जो मिलेगा, वह सुख, वह पदार्थ अन्तवत् होगा। इन्द्रका दिया स्वर्गभोग इन्द्र मरेगा तो नष्ट होगा ही।

सन् १९३५ में बिहारमें जब तात्कालिक कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल

बना तो एक सेठने एक मन्त्रीके दामादको सात हजार एकड़ जमीन दे दी। जब मन्त्रिमण्डल भंग हुआ तो उनसे भूमि वापस ले ली। वे मन्त्रीके पास गये। मन्त्रीने कहा : 'हम ही पद छोड़ रहे हैं, तो तुम्हें भूमि कहाँसे दिला दें।'

देवान् देवयजो यान्ति। जो देवताओंका उपासक है, वह अन्तिम गतिमें देवताओंमें मिलेगा। जो देहका प्रेमी है, उसे देहकी प्राप्ति होगी।

तुम किससे मैत्री करके किसके पास जाना चाहते हो? एक-एक विभागके अधिकारियोंके सेवक बनना चाहते हो या अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके अधीश्वर, सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, सर्वाव-भासक प्रभुके पास?

स्वामी होकर सेवक मत बनो। क्षुद्र देवताओंके हाथमें मत जाओ। यदि तुमने अग्निको सिद्ध कर लिया तो क्या मिलेगा? तब अग्नि होकर रहना पड़ेगा। लोगोंकी रसोई बनानी पड़ेगी। चिता जलानी पड़ेगी और मल भी भस्म करना पड़ेगा। वरुणको सिद्ध कर लिया तो पानी बनकर रहना पड़ेगा।

मद्भक्ता यान्ति मामपि। जो मेरी भक्ति करना चाहते हैं, वे मुझे पाते हैं। देवताओंके भक्तोंको भी मुझसे ही फल मिलता है, मेरे ही सेवकोंकी आराधना भी करते हैं; किन्तु उनका दोष है अज्ञान। जो समझदारीसे उपासना करते हैं, वे मेरी उपासना करते हैं, मुझे पाते हैं।

'मामपि यान्ति' : यहाँ 'अपि' का अर्थ है निश्चय ही। भग-वान्के भक्त निश्चय ही भगवान्को प्राप्त होते हैं।

जो देवताकी उपासना करेगा, उसका कुछ काल मन लगा,

थोड़ी कामना पूरी हुई, थोड़ी वस्तु मिली, थोड़े दिनोंमें मर जायगा। देवता भी मरेगा और लेनेवाला भी मर जायगा। लेकिन यदि वही फल भगवान्से लिया जायगा तो इसमें देनेवाला भगवान् तो कभी मरेगा नहीं। अतः उनको पानेवाला भी नित्य पद पायेगा।

अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः।
सुखानि स्वर्गो मोक्षश्च न दूरे हरिभक्तितः॥

—हरिवंश

भगवान्से माँगना हो तो पुत्र, धन, पत्नी, मणि-रत्न, भवन, घोड़े-हाथी, सुख, स्वर्ग या मोक्ष जो चाहे माँग लो। भगवान्की भक्तिसे कुछ भी दुर्लभ नहीं।

मद्भक्ताः कामानपि यान्ति, मामपि यान्ति।

जो मेरी उपासना करते हैं, उनको काम्यभोग भी मिलेंगे और मैं भी मिलूँगा। गजेन्द्रकी विपत्ति भी दूर हुई, मैं भी मिला। द्रौपदीकी लज्जा भी बची, मैं भी मिला। ध्रुवको राज्य मिला, मैं भी मिला। यही मेरी भक्तिकी महिमा है।

२६. भगवत्प्रपत्ति क्यों नहीं ?

संगति :

सर्वे मामेव न प्रपद्यन्ते किं निमित्ताम् ? सब भगवान्की ही शरण नहीं आते, इसका कारण क्या है ? यह देवताका दोष, देवताकी असामर्थ्य नहीं। यह बुद्धिका दोष है कि वह देवताको व्यक्ति, छोटा मानकर उपासना करता है।

न नाम्नि आकारे वा तत्सद्‌ग्रहः—देवताके नाम अथवा आकार में कोई आग्रह नहीं है। देखना यह है कि तुम्हारी बुद्धि इस नाम एवं आकारमें अनुगत सच्चिदानन्दको, उस नाम-रूपसे व्यक्तिरिक्त सच्चिदानन्दको यहीं, इसी आकारमें देखनेमें समर्थ है या नहीं।

वस्तु नहीं, बुद्धिमें सुधार करना है। जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाय और सूर्योदय होनेपर मिट जाय तो पूर्व बदलकर पश्चिम नहीं आती। दिशाओंमें कोई अन्तर नहीं होता, केवल बुद्धिका भ्रम दूर होता है। दिशाओंमें नहीं, बुद्धिमें भ्रम होनेसे मनुष्य भटकता है।

अज्ञान है 'अजानन्तः' और 'अबुद्धयः' है भ्रान्ति। इन्द्रादिको परमात्मा न जानना अज्ञान है और उन्हें इन्द्र-चन्द्रादि पृथक्-पृथक् देवता मान लेना भ्रान्ति है। जो अज्ञानके चक्करमें पड़े हैं, वे श्रीकृष्ण-को भी नहीं जानते, यह भगवान् अगले चार श्लोकों में बतलाते है :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मैं अव्यक्त हूं, पर अबुद्धि लोग मुझे व्यक्तित्वप्राप्त मानते हैं; क्योंकि वे मेरे अव्यय-अनुत्तम परभावको नहीं जानते ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् । मैं इस रूपमें प्रकट होनेपर भी अव्यक्त हूँ; लेकिन लोग मुझे व्यक्तिभावप्राप्त मान लेते हैं ।

एक तत्त्वज्ञ अपनी वृत्तिमें ब्रह्म है, लेकिन उसका ब्रह्म होना ब्रह्मको जाननेवाले ही समझ सकते हैं । दूसरे लोग तो उसे व्यक्ति ही देखेंगे कि यह हड्डी-मांस-चर्मवाला, आँख-नाक-कान-मुखवाला, हमारेसरीखा व्यक्ति ही मानेंगे । अज्ञानीको व्यक्ति दीखता है तो ज्ञानीको अव्यक्त । अनुत्तम अव्ययभावमें जो दृष्टि है, वह परमात्मदृष्टि है और व्यक्तिभावमें जो दृष्टि है, वह अबुद्धि-दृष्टि है ।

भगवान् 'अजानन्तः' और 'अबुद्धयः' दोनों शब्दोंसे उन लोगोंकी निन्दा करते हैं, जो भगवान्‌को एक व्यक्तिके रूपमें जानते हैं । व्यक्ति अर्थात् कार्य, अप्रकटका प्रकटरूपमें आना यानी अव्यक्तका व्यक्त होना !

एक विशेष प्रकारका संस्कार जिसके साथ लगा हो, वह व्यक्ति है : वि=विशेष, अक्ति=चिपकना, अर्थात् विशेषता-युक्त होना ।

गीतामें 'अव्यक्त' शब्द प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माके लिए भी आया है :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

यहाँ जीवात्माके लिए अव्यक्त आया है। 'न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन इति अव्यक्तः'—अर्थात् जो आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा आदि किसी इन्द्रियसे देखा न जाय वह अव्यक्त, सबके भीतर बैठा और सबका प्रकाशक है।

दूसरी भी 'अव्यक्त'की व्युत्पत्तियाँ हैं: 'व्यक्ताद् भिन्नः अव्यक्तः।' व्यक्त सृष्टिसे भिन्न जो हो, वह अव्यक्त है। 'नास्ति व्यक्तं यस्मिन्'—जिसमें व्यक्त सृष्टि है ही नहीं, वह अव्यक्त है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ (गीता ८.१८)

यहाँ प्रकृतिके लिए 'अव्यक्त' शब्द आया है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः। (८.२०)

यहाँ अव्यक्त प्रकृतिसे भी अव्यक्त ब्रह्म है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। (८.२१)

यहाँ अव्यक्त ब्रह्म है। श्रीकृष्ण अपनेको अव्यक्त कह रहे हैं। भगवान् स्वरूपसे अव्यक्त रहते हैं। अवतार-कालमें भी वे अव्यक्त हैं। प्रलय और बोधकालमें भी अव्यक्त हैं। व्यक्तिके रूपमें दीखते हुए भी अव्यक्त हैं। 'अव्यक्तं सन्तं मां व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते': ऐसे अव्यक्त भगवान्‌को लोग मानते हैं कि यह तो कोई व्यक्तिभावप्राप्त व्यक्ति है।

सम्प्रदायोंमें इसका अर्थ चार प्रकारसे चलता है:

१. अव्यक्तं सन्तं माम् अबुद्धयः व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।' मैं अव्यक्त ब्रह्म हूँ। अज्ञानी लोग मुझे व्यक्तिभावको प्राप्त मानते हैं।

२. 'व्यक्तिमापन्नं माम् अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।' व्यक्ति-

भावमें आकर साक्षान्नराकृति परब्रह्म परमेश्वर मैं तुम्हारा सारथि बनकर तुम्हारे रथपर बैठा हूँ। व्यक्ति बनकर तुम्हारा भला करने आया हूँ; किन्तु अबुद्धि लोग मुझे छोड़कर अव्यक्त ढूँढ़ने जा रहे हैं।

३. 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं च मां मन्यन्ते।' भगवान् व्यक्त और अव्यक्त दोनोंसे विलक्षण हैं, अनिर्वचनीय हैं। या तो तुम्हें स्वरूपका ज्ञान है, अतएव कहते हो: 'भगवान् प्रलयावस्थामें अव्यक्तरूपमें रहता है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय दोनों लीन हो जाते हैं।

४. 'अबुद्धयः मम अव्ययमनुत्तमं परं भावमजानन्तः।' जो अबुद्धि हैं, वे मेरे परभावको न जानते हुए भी व्यक्तिके रूपमें प्रकट मानते हैं।

देवता कार्य हैं—कार्यके अभिमानी हैं, अतः नाशसे ग्रस्त हैं। भगवान् कार्याभिमानी नहीं और न कारणभिमानी ही हैं। शुद्ध-ज्ञानमें अभिमानका लेश भी नहीं रहता।

ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं।

गोस्वामी तुलसीदासजीसे किसीने पूछा: 'ज्ञान किसे कहते हैं?'

गोस्वामीजी: 'जहाँ एक भी मान न हो।'

मान=नापनेका साधन। कालका मान है घंटा, मिनट, युग, कल्प आदि। देशका मान है इंच, मीटर आदि। वस्तुका मान है ग्राम, किलो, क्विटल आदि; ये कोई जहाँ न हों। न 'मैं' है, न 'मेरा'। ऐसी वस्तु परमभाव है, उसका अज्ञान है। इसीलिए देवता-रूप कार्यकी शरण ली।

'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्': बुद्धिहीन पुरुष मुझ अव्यक्तको व्यक्तिभावप्राप्त शरीरधारी मनुष्य मानते हैं। पञ्चभूत, प्रकृति,

आत्मा, ब्रह्म इनमें कोई शरीरधारी नहीं है। किसी भी वस्तुकी वास्तविकता तो अव्यक्त ही है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : 'मैं वही अव्यक्त, परमात्मा, नाम-रूपसे विलक्षण ब्रह्म हूँ। लेकिन 'अबुद्धयः'—कंस, शिशुपाल आदि मेरी ब्रह्मता नहीं जानते। वे मेरे व्यक्तित्वको, व्यक्तिभावापत्तिको ही जानते हैं।'

'जैसे संस्कारानुसार बीजसे अंकुर निकलकर वृक्ष बनता है, उसमें फल लगता है, वैसे ही सब व्यक्ति संस्कारानुसार देह धारण करते हैं। ऐसे ही मैं भी किन्हीं संस्कारोंके अनुसार बीज बना और व्यक्त हुआ हूँ। पहले अप्रकट था, अब प्रकट हुआ हूँ, ऐसा सब मनुष्यों जैसा मनुष्य वे मुझे मानते हैं। मेरे परभावको न जाननेके कारण वे अबुद्धि हैं, नासमझ हैं।'

इन्द्रतकको भ्रम हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं। अपनी पूजामें बाधा पड़ी तो व्रजको नष्ट करनेपर वे तुल गये। पूजा बन्द होनेपर श्रीकृष्णके विषयमें इन्द्रकी धारणा थी : कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य—मरणधर्मा मनुष्य कृष्णका आश्रय लेकर ये व्रजवासी मुझ अमर्त्यकी अवहेलना कर रहे हैं।'

अबुद्धयः। ऐसे लोग बुद्धिहीन हैं। उनकी बुद्धि विषयोंमें चरने चली जाती है। अबुद्धि कौन? जो अबुद्धि पदार्थोंसे एक हो जाय। धन, भवन, पदार्थ अज्ञानरूप हैं। धन जिसके पास हो वह धनी। ऐसे ही अज्ञान जिसका अपना हो, वह अज्ञानी। जड़ वस्तुवाला, 'मैं' अपनेको माननेवाला अज्ञानी है।

जो भगवान्का भजन न कर अन्य देवताकी पूजा करता है, वह तो 'अल्पमेधस्'—अल्पबुद्धि है। किन्तु भगवान्को मनुष्य मान ले तो वह अबुद्धि है। थोड़ी बुद्धिवाला अल्पबुद्धि होता है, पर अबुद्धि वह है जिसमें बुद्धि ही नहीं। दुर्बुद्धि अर्थात् बिगड़ी बुद्धि,

दुःखदायिनी बुद्धि। अबुद्धि-लोगोंका स्वरूप है कि वे स्वयं ब्रह्म परमात्माको व्यक्ति मानते हैं।

ऐसा कोई साकार होता ही नहीं, जिसमें निराकार न हों। निराकारको बिल्कुल न मानकर साकार ही साकार मानना कहाँ-की बुद्धिमानी होगी? शालग्राममें भगवान् हैं, ऐसा माननेसे अपनी बुद्धि भगवदाकार बनी; लेकिन शालग्राम ही भगवान् हैं, या नहीं हैं, यह अबुद्धिका लक्षण है।

अज्ञानी लोग ही श्रीकृष्णको मनुष्य मानते हैं। ज्ञानी भीष्म, विदुरादि तो उन्हें नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्म ही पहचानते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

—(गीता ४.९)

मेरा जन्म लोगोंके जन्म जैसा नहीं है। मेरा कर्म लोगोंके कर्म जैसा नहीं हैं। मेरा जन्म-कर्म दीखता हुआ भी जन्म-कर्म नहीं है, ब्रह्म है। इसे जो जान लेता है, वह स्वयं मुझ श्रीकृष्णको प्राप्त हो जाता है।

परं भावमजानन्तः। अबुद्धि वह है, जो श्रीकृष्णके अव्यय, अनुत्तम परभावको नहीं जानता। श्रीकृष्णका भाव, स्वरूप अव्यय और अविनाशी है।

'अव्यय' शब्द गीतामें जगत्, जीव और परमात्माके लिए भी आया है। 'जगतके लिए : अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्—यहाँ आत्माके लिए 'अव्यय' शब्द आया है। ईश्वरके लिए : यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः यहाँ है।

'अव्यय:'—'विपरीतभावं न एति इति अव्यय:।' जो विपरीत भावको न प्राप्त हो, वह अव्यय है। मोक्षका नाम भी अव्यय है : गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

इस प्रकार प्रपञ्च भी अव्यय, जीव भी अव्यय, ईश्वर भी अव्यय और मोक्ष भी अव्यय तो इसका तात्पर्य हुआ—एक अव्यय परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

अनुत्तमम्। भगवान्‌की सत्ता, ज्ञान, आनन्द अव्यय तो है ही; उससे परे, उससे उत्तम कुछ नहीं है। यह अव्ययभाव है अर्थात् परिणामी नहीं है। इससे ऊपर कोई पराव्यय नहीं, अनुत्तम है। इस भावकी पहचान न होनेसे अबुद्धि श्रीकृष्णको व्यक्ति समझते हैं।०

२०. योगमायाका रहस्य

संगति :

जीवके भगवान्‌को न पहचाननेका क्या हेतु है ? भगवान्‌के विषयमें जो विपर्यय या उलटा ज्ञान है, वह अज्ञान ही है।

एकबार मैं कहीं जा रहा था। मार्गमें जंगली सुअर मिल गया। दोनों ओर दीवारें थीं। मैं समझता था—'यह मुझपर आक्रमण करेगा' और वह समझता था कि 'यह मुझपर आक्रमण करेगा।' डरके मारे दोनों खड़े हो गये। दोनों अज्ञानी थे। दोनों भयभीत थे। मुझसे अधिक बुद्धिमानी उस सुअरने दिखलायी। उसने इधर-उधर देखा। पानी आनेकी बड़ी नाली उसे दीख गयी। दौड़कर उसमें घुसकर वह पार निकल गया। वह अपनी भी रक्षा कर गया और मुझे भी बचा गया। यह अज्ञानका ही दोष था कि मैं डरा खड़ा रह गया।

संसारमें अज्ञान ही ऐसा है, जो 'अनादि' होनेपर भी 'सान्त' होता है। इस अज्ञानका भी कोई निमित्त होता है ? अज्ञान तो अनादि है, जैसे आप जर्मन या हिब्रू भाषा नहीं जानते तो कबसे नहीं जानते ? बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी परम्परा कबसे चल रही है ? फिर भी प्रयत्नसे इस अज्ञानको दूर किया जा सकता है। भली-भाँति पढ़ लेनेसे उस भाषाका अज्ञान मिट जाता है। बीजको अग्निमें जला दें तो उसकी परम्परा समाप्त हो जाती है :

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

तब प्रश्न होगा : सब जीव भगवान्को क्यों नहीं पहचानते ?

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।

इसका भी कारण भगवान् बतला रहे है :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

योगमायासे समावृत मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूँ। यह मूढ़ लोक मुझ अज-अव्ययको नहीं जानता।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य। यदि योगमाया न पैदा होती तो वसुदेव-देवकीसे श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए, इसे कौन छिपाता ? इसे तो नन्द-यशोदासे उत्पन्न योगमायाने छिपाया। भगवान् कहते हैं : 'मैं सबके सामने प्रकट नहीं हुआ। सबको पता नहीं लगा कि मैं वसुदेव-देवकीका पुत्र हूँ।'

सबके सामने भगवान् प्रकट नहीं होते। मनुष्य भी सबके सामने अपने हृदयकी बात खोलकर नहीं कह पाता :

ऐसा कोई ना मिला जासों कहौं निशंक।

भगवान् सबके सामने आनेमें हिचकिचाते हैं। क्यों ? यदि सबको यह ज्ञात हो जाय कि नरक-स्वर्ग, पाप-पुण्य, निद्रा-जागरण सबमें :

जहाँ देखता हूँ वहीं तू ही तू है।

तो संसारके ये लोग कहेंगे : 'पहले नरकके भगवान्से मिल लो, स्वर्गके भगवान्से बादमें मिलेंगे। वे बेईमानी और पापमें लग

जायँगे। पाप-बुराई छोड़कर, कष्ट उठाकर भगवान्को नहीं ढूँढ़ेंगे, साधन-भजन नहीं करेंगे।

मैंने बचपनमें जारशाहीके रूसका वर्णन पढ़ा था। वहाँ रासपुटिनका एक सम्प्रदाय चलता था। वह कहता था : 'पाप करो तो ईश्वर मिलेगा।'

लेकिन ऐसा करेंगे तो धर्मका उच्छेद हो जायगा। अतः भगवान्ने मर्यादा बनायी कि वे सबके सामने प्रकाशित नहीं होते। जब सुनिश्चित हो जाता है कि बेईमानी और ईमानदारीकी समताका ज्ञान होनेपर भी यह ईमानदार रहेगा, विक्षेप और समाधिकी समताका ज्ञान होनेपर भी यह समाधिस्थ रहेगा, अप-वित्रता और पवित्रताकी समताका ज्ञान होनेपर भी यह पवित्र रहेगा, तब किसी-किसी भक्तके प्रति भगवान् अपनेको प्रकाशित करते हैं।

योगमाया समावृतः। भगवान् कहते हैं कि योगमायासे मैंने अपनेको ढँक लिया है। भगवान्ने अपने ऊपर पर्दा डाल लिया है :

'योगाय माया योगमाया' : भगवान् चाहते थे कि मैं छिप जाऊँ तो संसारके जीव मुझसे मिलनेको व्याकुल हों, उनमें जिज्ञासा हो। योग अर्थात् भगवान्से मिलनेका साधन, इसके लिए जो माया भगवान्ने की, वह योगमाया है। लेकिन जब भगवान्ने अपनेको ढँक लिया तो जीव बहिर्मुख हो गये, संसारमें लग गये। भगवान् कहीं गये नहीं, केवल मायासे छिप गये हैं।

'योगमायासमावृतः' : भगवान् कहते हैं कि 'मैं अपने साधनकी मायासे छिपा हूँ। लोग मुझसे मिलनेको अच्छे काम करें, साधन करें, इसलिए छिपा हूँ।'

ईश्वरके साथ हमारी यह 'निलायन-क्रीड़ा' (आँख-मिचौनी) चल रही है। केवल नाम-रूपका ढक्कन है। इसीका नाम 'योग-माया' है। इससे भगवान् स्वयं ढँके हैं।

मूढोऽयं नाभिजानाति। यह मूढ़-अज्ञानी लोग, उलटी बुद्धिवाले मुझे अजन्मा और अव्यय नहीं जानते।

आखिर मूढ़की पहचान क्या ? जो परमात्माको जन्मने-मरने-वाला माने वह मूढ़। मूढ़ वह हुआ जो भगवान्‌को अजन्मा, अनादि और अव्यय-अनन्त न पहचाने।

> यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
> असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
>
> —गीता

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।

जो अमूढ़ होते हैं, वे परमात्माको प्राप्त होते हैं।

> यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
> स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥
>
> —गीता

जो परमात्माको जाने, वह असम्मूढ और परमात्माको न पहचाने वह मूढ़।

एकबार मैं कनखलमें महामण्डलेश्वर स्वामी श्री भागवता-नन्दजीके यहाँ ठहरा था। एक बड़े कमरेमें हम कई पंडित थे। मैंने एक दिन घोषणा कर दी। 'मैं गीताके किसी भी श्लोकका ऐसा अर्थ कर सकता हूँ, जो अबतककी टीकाओंमें न हो।'

एक पण्डितने यही श्लोक पूछा। मैने अर्थ किया : 'अहं

सर्वस्य प्रकाशः ना।' 'ना' का अर्थ है पुरुष। 'ना नरौ नरः' ये उसके रूप चलते हैं। सबकी आँखोंसे दीखनेवाले जो मनुष्य, पशु-पक्षी हैं, वह मैं हूँ।

जब सब तुम्हीं हो तो मालूम क्यों नहीं पड़ते ? 'योगमाया-समावृतः अयं मूढो लोकः अजम् अव्ययं मां न अभिजानाति' : भगवान् तो खुले हैं, उनपर कोई पर्दा-आवरण नहीं है। जैसे सूर्यको बादल नहीं ढँकते। सूर्य बहुत बड़ा है। बादल सूर्य और दृष्टिके मध्य आते हैं तो आँख ढँक जाती है, पर अज्ञानी मानते हैं कि सूर्य ढँक गया है। ऐसे ही आवरण आता है उसकी बुद्धिपर और मनुष्य मानता है कि परमब्रह्म, परमात्मा ढँक गया। योग-मायासे ढँका यह मूढ़ लोक है।

जथा गगन घनपटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाये।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥
उमा राम बिषयक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥—मानस

राममें मोह नहीं है। 'राम-विषयक मोह तुम्हारी बुद्धिमें है। ऐसे ही योगमायासे समावृत भगवान् नहीं हैं, योगमायासे समावृत तो यह मोहग्रस्त प्राणी है।

नौकारूढ चलत जग देखा।
अचल मोहबस आपुहिं लेखा॥—मानस

इसी प्रकार मनुष्यकी बुद्धि भ्रान्त होती है। 'मूढोऽयं नाभि-जानाति' : ये लोग धन-प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्र-परिवारके मोहमें जिसे

ईश्वर नहीं जानते, उसके मोहमें फँस गये हैं। जिससे तुम्हारा मोह है, उसे तो तुम ईश्वर नहीं जानते। 'यह ईश्वर है और दूसरा ईश्वर नहीं है' यह भेदबुद्धि भगवान्‌को पसन्द नहीं। अतः मोह निवृत्त होना चाहिए।

'अभिज्ञानम्'का अर्थ है पहचान। उस अव्ययको पहचानो। मुझे झूँसीसे गोरखपुर जाना था। ट्रेनमें दरवाजेपर एक सज्जन मिले। बोले : 'आइये ! आइये !' मुझे बैठा लिया।

पूछा : 'कहाँ जायेंगे ?'

मैं : 'गोरखपुर।'

वे : 'वहाँ कहाँ जायेंगे ?

मैंने बतला दिया। उन्होंने फिर पूछा : 'वहाँ किससे मिलना है ?'

मैंने यह भी बतला दिया। उन्होंने भोजन किया तो मुझे भी खिलाया। रातमें मेरे सोनेका ध्यान रखा। गोरखपुर स्टेशनपर लोग उन्हें लेने आये थे। वहाँ पहुँचकर पता लगा कि मैं जिनसे मिलने जा रहा था, वे तो वे ही थे।

ईश्वर ऐसे ही मिलता है। हम उसे देख रहे हैं, मिले हैं; पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं। उपनिषद्‌का मन्त्र है :

तद्दूरे तद्वदन्तिके।

वह दूर है, यह बात स्मरण रहती है; किन्तु वह पास है, यह बात भूल जाती है। ●

२१. योगमाया किसे आवृत नहीं करती ?

संगति :

सब तो मूढ़ हो गये हैं, कहीं योगमाया तुम्हें भी तो प्रभावित नहीं करती ? इस आशंकाके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि 'योगमाया मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती ?' :

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अर्जुन ! मैं बीते हुए सब भूतोंको, वर्तमान और भविष्यके भूतोंको भी जानता हूँ; पर मुझे कोई नहीं जानता ।

अर्जुन ! योगमाया मुझे नहीं, लोगोंकी बुद्धिको ही आवृत करती है; क्योंकि मेरी सर्वज्ञता सदा बनी रहती है । जीव सर्वज्ञको जाननेमें असमर्थ हो जाता है ।

मां तु वेद न कश्चन । इसकी व्याख्यामें भगवान् श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं :

मद्भक्तं मच्छरणं एकं मुक्त्वा मत्तत्त्ववेदनाभावादेव न मां भजते । मैं भूतकाल, वर्तमान और जो भविष्यमें होनेवाला है, उसे जानता हूँ । लेकिन मुझे कोई नहीं जानता ।

कालकी धारामें अपने-अपने अन्तःकरणकी उपाधिसे हम

लोगोंने भूत, वर्तमान, भविष्य कल्पित कर रखे हैं; क्योंकि जो अभी भूत हो गया, वह पहले वर्तमान था और उससे पहले भविष्य था। देश, काल और वस्तुमें भूत, वर्तमान और भविष्य होता है। प्रत्येक वस्तुकी एक बीती अवस्था होती है, एक वर्तमान अवस्था और एक आनेवाली अवस्था होती है।

श्रीकृष्ण कहते हैं : 'मां तु वेद न कश्चन' : मैं किसीका दृश्य नहीं होता, मैं ज्ञेय नहीं हूँ। मैं विषय नहीं बनता।'

अविज्ञातं विजानताम्। जो दावा करते हैं कि 'मैंने जान लिया, उन्होंने उसे जाना ही नहीं।

यो न वेदेति वेद सः। परमात्माका स्वरूप ही यह है कि उसे कोई साक्षीभावसे जानना चाहे तो नहीं जान सकता; क्योंकि वह तो स्वयं साक्षी है।

भगवान् कहते हैं : 'मुझे कोई नहीं जानता।'

भगवान् शंकराचार्यने भाष्यमें कहा है : 'जो मेरा भक्त है, मेरी शरण है, उस एकको छोड़कर कोई मुझे नहीं जानता।'

'यदि कोई मुझे पहचानता है तो मेरा भक्त, मेरा शरणागत ही मुझे पहचानता है।'

जो सच्चा प्रेम नहीं करता, उससे छिपाव-दुराव तो बना ही रहता है। वस्तु उसे ही बतायी जाती है, जो प्रेम करता है, जो उसके लिए मरने तकको प्रस्तुत है। भगवत्तत्त्वज्ञान भी पुस्तकें पढ़नेसे नहीं होता। उसकी सच्ची जिज्ञासा हो, उसमें प्रीति हो, तब उसका ज्ञान होता है। स्वस्वरूपानुसन्धान, आत्मतत्त्वानुसन्धानका नाम ही भक्ति है। प्रेमसे जब अनुसन्धान करोगे तब उसका पता चलेगा।

'मच्छरण:' का अर्थ है अभिमानरहित होकर। कोई अभिमान लेकर चलेगा तो परमात्मासे मिलन नहीं होगा।

'मां तु वेद न कश्चन' : परमात्माकी सर्वरूपता, अद्वितीयता, अखण्डताको भगवत्तत्त्वज्ञानीको छोड़कर दूसरे लोग नहीं समझते।

ईश्वर मायासे सृष्टि, स्थिति और प्रलय कर रहा है। जीव अविद्यासे व्यवहार कर रहा है। अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर उससे जो भी होता है, वह मायासे ही होता है। माया अपने अधिष्ठानमें प्रतीतिमात्र है। पण्डित लोग अविद्याका अर्थ करते हैं : 'न विद्यते अविद्या, अविद्यमानैव आत्मनि भासते।' जो न रहते हुए ही आत्मामें भासती है। ०

२२. द्वन्द्व-मोहसे बचिये

संगति :

जिससे हम परमात्माके ज्ञानसे वञ्चित हो रहे हैं, वह क्या वस्तु है ? मनुष्य जन्म-मरणके चक्रमें क्यों पड़ा है ? तो कहते हैं :

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

भारत ! राग-द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्वोंके मोहसे सब प्राणी सम्मोहित हैं। परंतप ! इसीसे वे जन्म-मरणके चक्रमें पड़ते हैं।

भारत। भरतवंशमें उत्पन्न। श्रेष्ठवंशमें उत्पन्न होना चरित्रशुद्धिमें सहायक होता है। वह सोचता है कि 'मैं इतने ऊँचे वंशमें उत्पन्न होकर नीचकर्म कैसे कर सकता हूँ ?'

'भारत' यह सम्बोधन भौतिक पवित्रताका सूचक है। 'तुम इतने ऊँचे वंशमें उत्पन्न होकर भी द्वन्द्व-मोहमें फँस जाओगे ?

भा = प्रतिभा या प्रभा, उसमें जो रत है, वह भारत। जिसमें प्रतिभा और दैवीज्योति है, वह भारत है। भरत = लोगोंका पालन करो, लोगोंका पेट भर दो—इस प्रकारके प्रयत्नमें जो व्यग्र रहे, उसका नाम है 'भारत।'

इच्छा-द्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन। सबसे बड़ा शत्रु है द्वन्द्वका मोह। द्वन्द्व यानी जोड़ा रहनेवाली वस्तुएँ—सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख,

यश-अपयश, संयोग-वियोग। ये अकेले नहीं रहते। अपनी-अपनी बारीसे काम पूरा करते हैं। दोनोंमें कोई अखण्ड नहीं।

'इच्छा' का अर्थ है राग। जो हटाने-मिटाने योग्य लगता है, उससे 'द्वेष' होता है। संसारमें दुःख कहाँसे निकलता है? 'इच्छा-द्वेष समुत्थेन'। मनमें इच्छा हुई कि यह मिले, यह न मिले। जिसे चाहते हैं, उससे राग होता है और जिससे बचना चाहते हैं, उससे द्वेष।

इच्छा और द्वेष भी बदलता रहता है। आज जिसकी इच्छा करते हैं, कल उसीको हटाना चाहते हैं। आज जिसे नहीं चाहते, कल उसीको चाहने लगते हैं। वस्तु, स्थान, व्यक्ति, परिस्थितिके बारेमें इच्छाएँ भरी हैं—'यह हमारे पास आये, बना रहे और द्वेष भी है—'यह हमारे सामने न आये।'

एक अद्वय परमात्मामें भेद-बुद्धिके कारण राग-द्वेष होता है। अर्थात् यह ग्राह्य और यह त्याज्य, यह प्रेय और यह हेय, इस प्रकार द्वन्द्व-मोह होता है।

इच्छा : जो बुद्धिको ढँक ले। 'इ' का अर्थ है बुद्धि और 'छा' अर्थात् छादन करना, ढँकना।

जैसा कर्म करते हैं, वैसा संस्कार पड़ता है। जैसा संस्कार पड़ता है, वैसी वासना होती है। उसके अनुसार फिर कर्म करते हैं। इस प्रकार चक्र चलता रहता है—कर्मसे संस्कार, संस्कारसे वासना, वासनासे कर्म। मनुष्य इसी चक्करमें पड़ गया है।

मनुष्यके मनमें जो राग-द्वेष हैं, वे न ईश्वरने दिये हैं, न आत्मामें हैं। ये प्रकृतिमें भी नहीं हैं और न पञ्चभूतोंमें हैं। ये केवल मनोविकार हैं अर्थात् केवल मानसिक भ्रम हैं। पूर्व-पूर्व-

जन्मोंके रागके अनुसार मनुष्यके मनमें इस जन्ममें द्वन्द्व-मोहका उदय होता है कि यह सुख, यह दुःख, यह पाप, यह पुण्य, यह यश, यह अयश, यह पशु, यह पक्षी, यह पुत्र, यह पिता, यह शत्रु, यह मित्र। इसीसे वह 'यह चाहिए, यह नहीं चाहिए' में उलझ जाता है।

जिसे बदरीनाथ जाना है, उसे मार्गमें अच्छी साफ चट्टी मिलेगी और बुरी भी। अच्छी चट्टीको भी सबेरे छोड़कर जाना होगा और शामको बुरी चट्टीपर भी ठहरना पड़ेगा। जिसे अपना लक्ष्य प्राप्त करनेको चलना है, उसे मार्गके राग-द्वेषको छोड़कर चलना पड़ता है। नहीं तो वह अपने गन्तव्यपर नहीं पहुँच पाता। कहीं प्यार करेगा तो रुक जायगा। लड़ाई करेगा तो पिटेगा, जेल जायगा। संसारमें राग करनेवाले और द्वेष करनेवाले दोनो फँसते हैं।

चरैवेति चरैवेति—बढ़े चलो! बढ़े चलो! रुको मत!

सर्वभूतानि सम्मोहम्। संसारके सब प्राणी बेहोश हो रहे हैं।

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।
'कस्मै तत् कथयामि को मम कथामामूलतः श्रोष्यति।'

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

वह बात किससे कहूँ? प्रारम्भसे अन्ततक मेरी बात कौन सुनेगा? जो समझदार हैं, उनके सामने कोई उत्तम बात कहें तो कहते हैं: 'यह तो साधारण है।' उनके चित्तमें मात्सर्य है। जिनके पास पद या धन है, वे अभिमानके सिंहासनपर बैठे हैं, अपने घमण्डमें चूर हैं। जो साधारण लोग हैं, वे समझते नहीं, अज्ञानी हैं। इसलिए महात्मा लोग बोलना पसन्द नहीं करते।

एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।

बुद्धिमान् लोग यही विचारकर चुप रहते हैं कि कहो तो भी दुनिया वैसी, न कहो तो भी दुनिया वैसी। जब हर हालतमें वैसी ही रहती है, तो कहनेकी जरूरत क्या है? अतः वे उत्तम बात पचा लेते हैं।

इच्छा-द्वेषसे उठा ऐसा सम्मोह लोगोंके मनमें आ गया है कि उससे वे बार-बार जन्मते और बार-बार मरते हैं।

जो किसीको पकड़कर राग या द्वेषसे बैठ गये, उनकी गति अवरुद्ध हो गयी। जन्मकालसे ही सब प्राणी इस सम्मोहमें फँसे होते हैं, अतः—

परंतप। अपने शत्रुको पहचानो यह द्वन्द्व, यह राग-द्वेष, यह प्रिय, अप्रिय, यही उलझाकर सबके जन्म-मृत्युके, आवागमनके चक्रमें डाले हैं। इससे सम्मोहमें पड़ गये, लक्ष्य छूट गया। अतएव इन द्वन्द्वोंके राग-द्वेषसे बचकर परमात्माकी ओर चलना चाहिए। ●

२३. किससे भजन होता है ?

संगति :

इच्छा-द्वेषसे उठा द्वन्द्व-मोह तुम्हारे हृदयमें है और उसे तुम मिटा सकते हो। इसे मिटाने, इससे छूटनेका उपाय क्या और छूटे हुए मनुष्यकी पहचान क्या है ? पहचान यही है कि वह भगवान्‌का भजन करता है। सभी प्राणी राग-द्वेषके वशीभूत हो रहे हैं, अतः मां न भजन्ते। और जब राग-द्वेष छूटता है, तब भजन करते हैं। वे जन्म-मरणसे बचते हैं :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

जिन पुण्यात्मा जनोंके पाप समाप्त हो गये हैं, वे द्वन्द्व-मोहसे छूटकर दृढ़व्रतपूर्वक मेरा भजन करते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानाम्। जब इनके पापका अन्त हो जाता है, तब ये मनुष्य होते हैं।

एक व्यक्तिको कथा करना आता था, पर वह चुप बैठा था। महात्माने पता लगाया : 'इसे भगवान्‌की लीलाका वर्णन करना आता है, फिर यह चुप क्यों बैठा है ?' उसका पाप उसकी जीभ पकड़े बैठा था कि भगवान्‌की चर्चा इसके मुखसे बाहर न जाय।

एक श्रोता बैठा था। उसके कान थे, समझ थी; पर सुनता नहीं था। उसका पाप उसके कानमें बैठा उसे भगवच्चर्चा सुनने नहीं दे रहा था।

एक सज्जन परमार्थके विषयमें प्रश्न कर सकते थे; पर चुप बैठे थे; क्योंकि उनके मनको पाप दबाये था। प्रश्न मनमें उठ नहीं रहा था।

एक पुण्यात्मा वहाँ आ गया। उसने प्रश्न कर दिया तो वक्ता-को जीभ खुल गयी। श्रोताके कान खुले और प्रश्नकर्ताके मनमें भी प्रश्नका उदय हुआ। उसने भी प्रश्न किया। भगवत्कथा-सम्बन्धी प्रश्नसे तीनोंके पाप कट गये। श्रीमद्भागवतमें यह बात आयी है।

> वासुदेव - कथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
> वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄन् तत्पादसलिलं यथा॥

मनुष्यके जीवनमें पापका अन्त क्या है? दूसरेको बुरा सम-झना, कर्ता समझना, अपनेको ब्रह्म न समझकर भला या बुरा समझना अविद्यारूप पाप है।

आदमी पापी नहीं है, इसकी पहचान क्या है? महाभारतमें बतलाया है:

> यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
> कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

धर्मव्याध कहता है: 'हे जाजलि, धर्मका रहस्य वह जानता है जो संसारमें किसी भी प्राणीको पापी नहीं मानता—कर्म, मन और वाणीसे भी।'

एकबार मैं विचार करने लगा : 'मुझे कौन-सा महात्मा पसन्द है ?' सोचते-सोचते लगा कि मैं जो हूँ, जैसा हूँ, वैसा ही जो मुझे स्वीकार करे, वह महात्मा मुझे पसन्द होगा।

जो शरीर देखकर किसीको पसन्द करते हैं, उनकी पसन्द तो बहुत ओछी है। शरीर आज ऐसा है, कल बदल सकता है। जो गुण-अवगुण देखकर पसन्द करते हैं, उनकी पसन्द भी सदा बनी नहीं रह सकती। जो कुछ चरित्रमें सुधार चाहते हैं वे सुधारक हो सकते हैं।

मोकलपुरके बाबा चरित्रमें कुछ सुधार, परिवर्तन चाहते थे। श्री उड़ियाबाबाजी महाराजको जो जैसा होता, जैसे भी रहता, वैसे ही पसन्द था। वे किसीमें कोई परिवर्तन करनेका प्रयत्न नहीं करते थे।

किसीको मनसे पापी मत समझो। कर्मसे या वाणी किसीका तिरस्कार मत करो। तुम सर्वत्र ईश्वर देखनेके लिए पैदा हुए हो या सर्वत्र पापी देखनेके लिए ?

जैसे कौआ सबके प्रति शंका करता है, वैसे ही जो दूसरेके सम्बन्धमें सदा शंकाग्रस्त रहे, वह पापी है। पहले पापी देखना छोड़ो, तब पुण्यात्मा बनोगे। अपने भीतरका विष जब दूसरेपर डाला जाता है, तो वह बढ़ जाता है और भीतर ही रोक लिया जाता है, तो वह पच जाता है।

दूसरेको बुरा न देखना, पहली बात है। सबको भला देखना दूसरी बात और सबको परमात्मा देखना तीसरी बात है।

सबको पञ्चभूतका पुतला समझो, मनका विलास समझो, प्रकृतिका कार्य समझो, ईश्वरकी रचना समझो या सबको ईश्वर समझो; लेकिन यह भला-बुरा समझना कौन-सी समझदारी है ?

यह समझ कब आती है? जब मनुष्यके पापोंका अन्त हो जाता है यानी पुण्यकर्म करनेसे। जिससे अपना चित्त निर्मल हो, वह पुण्य है। पुण्यकर्म करनेसे पापोंका अन्त होता है। पापका अन्त होनेपर हम द्वन्द्व-मोहसे छूट जाते हैं।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः। 'आज सर्दी पड़ रही है तो स्नान-पूजन नहीं करेंगे, आज अमुक मर गया तो पूजा बन्द, आज अमुक मेहमान आ गये हैं तो सेवा-पूजा जल्दी निबटा देनी है' ऐसा नहीं। द्वन्द्व-मोहको छोड़कर भजन करो। दुःख हो या सुख, उसकी परवाह मत करो और ईश्वरकी सेवा करो।

'आज खीर बनानेवाली है, माला कम फेर लो, आज भोजनकी व्यवस्था ही नहीं तो माला क्या फेरें?' ऐसा मत कहो। भोजन उत्तम मिले या न मिले, उसकी चिन्ता छोड़कर भजन-पूजन करो।

'आज पत्नी रूठी है या मेहमान आ गये हैं; आज शत्रु मिल गया या 'आज मित्र आया है' ये सब द्वन्द्व छोड़कर भजन करो।

पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिके चक्करमें पड़कर जो भजन छोड़ देते हैं, समझ लो कि वे पापी हैं। पापका अन्त तब होता है जब द्वन्द्वकी चिन्ता छोड़कर भजन किया जाता है।

'द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः : इसका तात्पर्य है कि पीछे कौन छूट गया या आगे क्या आयेगा, इसकी परवाह मत करो। अगल-बगलकी चिन्ता छोड़ दो :

तू तो राम भजो जग लड़ना दे।
कुतवा भुकत वाको भुकना दे॥

आज इसलिए भजन छोड़ा कि पत्नीके सिरमें दर्द है। कल इसलिए कि पुत्रको पाठशाला पहुँचाना था। परसों इसलिए कि भाईसे झगड़ा हो गया था। ऐसे कहीं भजन होता है?

मूढ़से भजन नहीं होता। द्वन्द्वका मोह छोड़कर—सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रकी चिन्ता त्यागकर भजन होता है।

घरमें ऐसा कोई दिन नहीं होता, जब कोई समस्या ही न हो। सब समस्याओंका समाधान करके भजन हो ही नहीं सकता। समस्याओंके रहते जो चलेगा, वही चलेगा।

हम लोग एक मुसलमान सज्जनके घर गये। उनकी पुत्रीका विवाह था। उन्होंने हमारा बड़ा स्वागत-सत्कार किया; किन्तु जब नमाजका समय आया तो बोले: 'आप बैठिये, हम नमाज पढ़ लें।' भजन ऐसे होता है!

दृढव्रताः। पहले तो पाप ही बड़ी बाधा डालते हैं। पापकर्म किसी प्रकार छूटते भी हैं तो उनकी वासना बनी रहती है। पुण्यकर्म करते-करते यह पाप-वासना मिटती है और द्वन्द्वका मोह छूटता है। तब भजनमें दृढ़ता आती है।

मनुष्य जब व्रत लेता और उसमें दृढ़ रहता है, तब उसे रस मिलता है। व्रत लिये बिना निष्ठा नहीं बनती। जो एकको छोड़कर दूसरेको पकड़ता है, उसकी तो कोई स्थिति ही नहीं है। जैसे एकको छोड़कर आज वह दूसरेको पकड़ रहा है, वैसे ही कल दूसरे छोड़कर तीसरेको पकड़ेगा।

पार्वतीजी के गुरु थे देवर्षि नारद। सप्तर्षि आये और सातोंने कहा: 'तुम गलत रास्तेपर हो। शिवसे विवाह करनेका निश्चय समझदारीका निर्णय नहीं है।'

पार्वतीजीने उत्तर दिया :

महादेव अवगुन भवन, बिस्नु सकल गुनधाम।
जाकर मन रम जाहि सो, ताहि ताहिसन काम॥

जौं मोहि मिलतेउ प्रथम मुनीसा।
करतेउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब हौं जनत संभु हित हारा।
को गुन दूषन करै बिचारा॥
गुरुके वचन प्रतीति न जेही।
सपनेउ सुलभ न सुख सिधि-तेही॥

परमात्मा सर्वत्र, सब समय, सबमें है, पर जहां निष्ठा होती है, वहां प्रकट होता है। अतः दृढ़निष्ठासे भजन करना चाहिए। ●

२४. उपसंहार

संगति :

अब प्रसंगका उपसंहार करते हुए भगवान् दृढ़निष्ठापूर्वक भजनका फल दो श्लोकोंमें बतलाते हैं :

जरा-मरण-मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

बुढ़ापे और मृत्युसे छुटकारा पानेके लिए जो मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और समस्त कर्मको भी जान जाते हैं। जो अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ-सहित मुझे जान लेते हैं, वे युक्त-चित्त प्रयाणकालमें भी मुझे जान लेते हैं।

ये यतन्ति। प्रयत्न अवश्य करो। जो प्रयत्न ही नहीं करेगा, वह कैसे पहुँचेगा ?

किसीने कहा : 'प्रयत्न करेंगे तो अभिमान हो जायगा' :

अस अभिमान जाय जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

'मैं भगवान्का दास हूँ' यह अभिमान नहीं है। यह तो अभिमानोंका निवारण है, अभिमानोंकी औषधि है।

'मैं जीव हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' आदि अभिमानोंका नाश है : 'मैं ब्रह्म हूँ।' अतः साधना करनी चाहिए। साधना कभी छोड़नी नहीं चाहिए।

मामाश्रित्य। केवल 'त्वं' पदार्थ पर साधना मत करो। उसमें 'तत्' पदार्थका अनुचिन्तन मिला दो। भगवान्का आश्रय लेकर साधना करो। इससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी ?

जरा-मरणमोक्षाय। जन्म, जरा और मरणसे सदाके लिए छुटकारा मिल जायगा।

जो जाके न आये सो जवानी देखी।
जो आके न जाये सो बुढ़ापा देखा॥

ते तद् ब्रह्म विदुः कृत्स्नम्। जो प्रयत्न करते हैं, वे ही उस समग्र ब्रह्मको जानते हैं। ब्रह्म समग्र है। परा-प्रकृति भी ब्रह्म है, अपरा-प्रकृति भी ब्रह्म है। 'प्रभवः प्रलयः' भी ब्रह्म है। तुरीय तो ब्रह्म है ही।

अध्यात्मम्। शरीरके भीतर जो देखने-सुनने या करनेकी शक्ति है, वह अध्यात्म है।

स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।

अखिलं कर्म च। पाप क्या है, पुण्य क्या है, क्रिया कैसे होती है, इसको वे भी जानते हैं।

साधिभूताधिदैवं माम्। अध्यात्म-स्वभाव भी ब्रह्म ही है और उससे जो कर्म हो रहे हैं, वे भी वही है। 'साधिभूतम्' :

यह अपरा प्रकृति भी वही है। अधिदैव : इन इन्द्रियों तथा पदार्थोंके अधिष्ठाता देवताके रूपमें भी वही है। अधियज्ञ : अन्तर्यामी भी वही है। प्रयाणकालमें भी वह मुझे जानता है; क्योंकि वह युक्त-चित्त है।

जब यह ज्ञान हो गया कि अधियज्ञ, अधिदेव, अधिभूत, अध्यात्म तथा कर्म भी भगवान् हैं; परा-अपरा दोनों प्रकृति भगवान् ही हैं तो 'मैं' कौन और मृत्यु क्या है ? 'मैं' भी और मृत्यु भी भगवान् ही हैं :

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

जिसने यह जान लिया कि मौत भी भगवान् ही हैं, वे मरनेके समय भी जानेंगे कि हम भगवान्से मिल रहे हैं, मौतके रूपमें भी भगवान् ही आ रहे हैं।

युक्तचेतसः। सर्वरूपमें जो भगवान्को पहचान लेते हैं वे सब समय, सब दशाओंमें भगवान्से मिले रहते हैं।

वस्तुतः ये अन्तिम दो श्लोक आठवें अध्यायके विषय हैं। आठवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुन प्रश्न करेगा :

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहा जाता है ? अधिदेव किसको कहते हैं ?

मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ कौन है ? कैसे है ? और नियतात्माओं द्वारा प्रयाणकालमें तुम किस प्रकार जाननेयोग्य हो ? भगवान् अर्जुनके इन प्रश्नोंका वहीं उत्तर देंगे।

यदि यहीं सातवें अध्यायमें इसकी व्याख्या कर दी जायगी तो आठवें अध्यायमें प्रश्न ही नहीं बनेगा। अतः आठवें अध्यायके प्रश्नको ध्यानमें रखकर इसकी व्याख्या यहाँ नहीं की जानी चाहिए।

२२. श्रीमद्भागवत-रहस्य		२.५०
२३. आनन्दवाणी भाग ७		१.००
२४. श्री उड़िया बाबाजी और मोकलपुरके बाबाजी		०.२०
२५. स्पन्दतत्त्व		०.३०
२६. आनन्दवाणी भाग ३ और ४	प्रति	१.००
२७. आनन्दवाणी भाग५ (गुजराती)		१.५०
२८. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरे जी कृति)		०.३५
२९. आत्मबोध		२.००
३०. चरित्र निर्माण आणि ब्रह्मज्ञान (मराठी)		१.००
३१. महाराजश्री का एक परिचय (गुजराती) (द्वि. सं.)		१.२५
३२. महाराजश्री का एक परिचय (द्वि. स.)		०.५०
३३. आनन्दवाणी भाग ६, ८, ९	प्रति	१.००
34. Glimpses of life Divine		1.00
35. An Introduction to a Realised Soul		0.25
36. Import of the Impersonal		0.20
37. Ideal and Truth		3.00
३८. चिन्तामणि (त्रैमासिक पत्रिका)	प्रतिवर्ष	४·००

अन्यान्य अनेक पुस्तकों की सूची निम्नलिखित पते से मँगाइये :

व्यवस्थापक

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६

बी० जी० खेर-मार्ग, मलाबारहिल, बम्बई-४००००६

२२.
२३.
२४.
२५.
२६.
आ २७. अ
के २८. ज्ञ
वा २९.
३०.
३१.
३२

२२
२३.
२४.
२५.
२६.
आ २७. अ
के २८. ज्ञ
व २९.
३०.
३१.
३२